प्रकाशक:—

ओरिएण्टल बुक डिपो,

देहली, जालंधर।

मूल्य २॥)



मुद्रक:—

कॉरोनेशन प्रिंटिंग वर्क्स,

फतेहपुरी, देहली।

# प्रारम्भिक

आजकल के नवयुवक भविष्य-भारत के भाग्य-विधाता होंगे। अतः उनमें शिक्षा और विद्या के द्वारा ऐसे ऐसे उच्च भावों को भरना चाहिए, जिनसे वे भविष्य में अपने कर्त्तव्य-भार को उठाने को सशक्त हो सकें। उनकी शिक्षा-प्रणाली में ऐसी-ऐसी पाठ्य-पुस्तकों का समावेश होना चाहिए, जो उनके आदर्शों को उच्चता की ओर उठा सकें और उनके हृदयों में उन-उन विचारों को उत्पन्न कर सकें, जो उन्हें सद्गृहस्थ, वीर सैनिक और देश-भक्त बना सकें।

आजकल जिन परिस्थितियों में हमारे युवकों के जीवन ढल रहे हैं, वे तो, खेद से कहना पड़ता है कि उन्हें उल्टे उन प्रवृत्तियों से विमुखता की ओर ले जा रही हैं। आदर्श रहित तथा अश्लील चलचित्रों को देख-देखकर, कामोत्तेजक उपन्यास और कहानियों को पढ़-पढ़कर उनके मन में जो कुविचार उठते रहते हैं, उन्हें रोकने का एकमात्र यही साधन है कि उनके हाथों में शिक्षा-प्रणाली के द्वारा ऐसी-ऐसी पुस्तकें रक्खी जायँ, जो उन्हें इन कुप्रवृत्तियों की ओर प्रवृत्त न होने दें, और अपनी जगन्मान्य प्राचीन सभ्यता तथा संस्कृति के विमुख न होने दें।

ऐसी अवस्था में नवयुवकों की अपरिपक्व भावनाओं को सुविचारों से प्रभावित करना किसी भी देश की शिक्षा-प्रणाली का प्रथम ध्येय होना चाहिए। लड़कपन से निकल कर जब मनुष्य की बुद्धि परिपक्व हो जाती है और उसमें अच्छाई बुराई की विवेक-शक्ति आ जाती है, तब किसी प्रकार के भी साहित्य के परिशीलन से उसे विशेष हानि की सम्भावना नहीं होती।

इस पुस्तक 'नाट्यभानु' में मैंने यथासम्भव ऐसे ऐसे ही कुछ विषय रक्खे हैं। इनके द्वारा उनके आगे यह रखने का यत्न

किया है कि प्राचीन काल में हमारे बच्चों की शिक्षा कैसी होती थी, हमारे शासक संसार में कैसे उच्च आदर्श स्थापित करते थे और राजपूत वीर अपने देश की बलिवेदी पर किस तरह प्राणोत्सर्ग किया करते थे। मेवाड़-विध्वंस, अशोक और परीक्षा इन तीन दृश्यों द्वारा ऐसी मानवीय उच्च भावनाओं को स्थापित करने के साथ ही पश्चिम के सुप्रसिद्ध नाट्यकार शेक्सपीयर के संसार-विख्यात 'मरचेंट आव् वेनिस' के न्यायालय-दृश्य द्वारा मित्रता के उच्च आदर्श का दिग्दर्शन कराया है।

इन आदर्शों को मैं दृश्यों के द्वारा ही क्यों रख रहा हूँ, इसका कारण यह है कि जहाँ कहानियों और उपन्यासों का सम्बन्ध केवल पठनमात्र से ही होता है, वहाँ नाट्य विषय को पढ़ा भी जा सकता है और अभिनय के द्वारा देखा भी जा सकता है। पठित विषय से आँखों के द्वारा देखे हुए विषय का मन पर शीघ्रतर और स्थायी प्रभाव रहता है। और फिर नवयुवक तो नाटक-दृश्यों को अधिक चाव से देखते ही हैं। इस पुस्तक के चारों ही नाटक अभिनीत हो सकते हैं।

'मेवाड़-विध्वंस' का विषय 'मेवाड़-पतन' से, 'अशोक' का इसी नाम के 'अशोक' उपन्यास से, 'परीक्षा' का महाभारत से तथा 'दुर्लभ बन्धु' का 'मरचेंट-आफ़ वेनिस' से लिया गया है। उनके प्रणेताओं का मैं अतीव आभारी हूँ।

—:०:—

१५-३-१९५२ सूर्यभान

अनुक्रमणिका

# मेवाड़-विध्वंस

# उत्थानिका

माघ सुदी-एकादशी संवत् १६५३ ( १६ जनवरी १५९७ ) का दिन था। महाराणा प्रताप की रुग्ण-शय्या को घेरे हुए अनेक सामन्त और सरदार बैठे थे, कुमार अमरसिंह उनके पाँव दबा रहा था। राणा के नेत्रों से अश्रु-प्रवाह निकल रहा था, पर प्राण कण्ठावरुद्ध थे, न निकलने का आग्रह कर रहे थे। चन्दावत सरदार ने पूछा—"महाराज, कोई आज्ञा ?" "मेरी आज्ञा जिसके लिए है, उसका जीवन और ही साँचे में ढल रहा है। वह इस आज्ञा को पूर्ण करने को अक्षम है।" अमरसिंह ने पाँव दबाते-दबाते ही कहा—"पिता जी, आप मेरी ओर से निश्शंक रहें, मैं आपके निष्कलंक यशोवितान पर कोई दाग़ न लगने दूँगा।" "बेटा, मेरी एक आशा अपूर्ण रह गई है-चित्तौड़ दुर्ग पर अभी तक शत्रु ध्वजा फहरा रही है।" राणा ने कहा। "मैं आप के चरण-रज की शपथ खा कर कहता हूँ कि उस दुर्ग पर अपनी

विजय-ध्वजा फहरा कर ही दम लूँगा।" अमर के मुख से इन शब्दों के निकलने के साथ ही महाराणा के कण्ठ से प्राण भी शान्ति से निकल गये।

राणा के बाद अमरसिंह मेवाड़ के राणा बने। जब तक अकबर दिल्ली का अधिपति रहा, उसने फिर मेवाड़ पर आक्रमण नहीं किया। अकबर के बाद दिल्ली का तख़्त जहाँगीर के हाथ आया। उससे न सहा गया कि मेवाड़ स्वतन्त्र रहे। अतः एक भारी सेना लेकर उसने मेवाड़ पर आक्रमण कर दिया। कुछ मार-काट के बाद वह हार गया।

रण-भूमि में राजपूतों का मुक़ाबला करने में अपने आप को अक्षम जान कर उसने कूटनीति का अवलम्बन किया, राणा प्रताप के विद्रोही भाई सगरसिंह को चित्तौड़ दे दिया। आख़िर सगरसिंह भी उसी पिता का पुत्र था, जिसका राणा प्रताप था। सात वर्ष चित्तौड़ का राज्य करने के बाद उसने चित्तौड़ की चाबियाँ स्वयं अमरसिंह के हवाले कर दीं, और स्वयं वानप्रस्थी हो गया।

इस प्रकार चित्तौड़ का क़िला राणा अमरसिंह के हाथ अनायास आ गया, पर जहाँगीर इसे न सहन कर सका। उसने एक विशाल सेना अपने पुत्र शाहज़ादा परवेज़ के आधि- में भेज कर राणा को पराजित करना चाहा, पर इस बार

भी उसे पराजय ही हुई।

कई वर्षों के संघर्ष के कारण राजपूत-सेना बलहीन हो गई थी। सब नामी वीर मर चुके थे और नये बन नहीं रहे थे। इसलिए अमरसिंह जहाँगीर से सन्धि करना चाहते थे। पर सालुम्बर-सरदार गोविन्दसिंह आदि स्वर्गीय राणा के समकालीन कतिपय सरदार इससे सहमत न हुए। इसलिए राणा को लड़ना ही पड़ा। इसके पश्चात् जहाँगीर ने कई बार मेवाड़ पर आक्रमण किये, पर सब निष्फल गये। अन्त में उसने राजा जयसिंह और महावत ख़ाँ को भेजा। इस समय उसे सफलता मिली और मेवाड़ का पतन हो गया।

—:o:—

# पात्र

राणा अमरसिंह··········मेवाड़ के राणा

गोविन्दसिंह············राणा के सेनापति (सालुम्बा सरदार)

महावत खाँ············जहाँगीर का सेनापति—सगरसिंह का पुत्र

हिदायत अली············जहाँगीर का सेनापति

गजसिंह············जोधपुर का राना

जयसिंह
कृष्णदास } ··········कुछ सामन्त
आदि

सत्यवती············ { सगरसिंह की कन्या, चारणी

## पहला दृश्य

( स्थान—सालुम्बा सरदार गोविन्दसिंह का घर, गोविन्दसिंह हाथ में नग्न खड्ग लिए हैं । )

गोविन्दसिंह—( उत्तेजित सा ) मेरे प्यारे करवाल! मेरे सततसङ्गी करवाल! जब तक तुम मेरे कर में हो, तब तक स्वर्गीय राणा का अपमान न होने पायेगा। हम लोगों ने तुझे भुला दिया है, तभी शायद हमारी यह अवस्था हो रही है, इसलिए तेरा मुख भी इतना मलिन हो गया है। अब न हमारी वह अवस्था रहेगी और न तेरा मुख ही मलिन रहेगा। जिस समय तू शत्रुओं के उष्ण रक्त का पान करेगा, उस समय तेरा मुख समुज्ज्वल हो जायगा, तेरी चिरपिपासा शांत होगी। मुझे क्षमा कर, मेरे सहचर, आगे को मैं यह धृष्टता कभी न करूँगा। तुझे सदा अपना सङ्गी रक्खूँगा।

(कुछ सोच कर) मैं क्या कह गया हूँ! कहाँ मेरी वृद्धावस्था और कहाँ तेरा संग! तू न वृद्धों का साथी है और न कायरों का साथी। मैं कायर तो नहीं, पर वृद्ध तो हूँ। तेरी लाज को कैसे बचा सकूँगा? (आवेश से) क्यों न बचा सकूँगा! वृद्ध हूँ तो क्या! पितामह भीष्म क्या वृद्ध न थे?

(सामन्त जयसिंह का प्रवेश)

जयसिंह—प्रणाम सेनापति जी!

गोविन्दसिंह—आइये जयसिंह जी! किस लिये आये हैं?

जय०—राणा जी ने आपको बुलाया है।

गोविन्दसिंह—मुझे बुलाया है? किस लिये?

जय०—सन्धि की शर्तों पर विचार करने के लिये।

गोविन्दसिंह—सन्धि की शर्तों पर! कैसी सन्धि! किसके साथ सन्धि!

जय०—राणा जी मुग़ल सम्राट् के साथ सन्धि करना चाहते हैं।

गोविन्दसिंह—(अपने आप) जिस बात का मुझे खटका था, वही होने को है। (आवेश में) भगवान्, मेरी वृद्ध धमनियों में फिर उसी जवानी के खौलते हुए रक्त का संचार करो कि मैं स्वर्गीय राणा के पवित्र वंश को कलुषित होने से बचा सकूँ। (जयसिंह से) जयसिंह जी, मैंने तो

कभी सन्धि की न चर्चा की है और न सलाह ही दी है। फिर यह सन्धि कैसी ? जब से होश सँभाला है, तब से लेकर,( हाथ में दाढ़ी के बाल लेकर) इस दाढ़ी के बालों के पकने तक मैं युद्ध ही करता आया हूँ । मैंने कभी सन्धि का नाम भी नहीं लिया। मैं तो युद्ध करना जानता हूँ और यही उम्रभर करता रहा हूँ। मुझ से राणा सन्धि की क्या सलाह लेंगे ? अच्छा यह बताओ कि इस समय अचानक सन्धि के विचार का राणा के मन में उदय ही कैसे हुआ ?

जय०—राणा का विचार है कि इधर कई वर्षों से मेवाड़ की दशा सुधर रही है । इसकी भूमि जो पहले बरसों से खंडहरों से आवृत रहती थी, अब भव्य अट्टालिकाओं से सुशोभित हो रही है । जहाँ पर पहले प्रजाजन अन्न के दाने-दाने के लिए तरस रहे थे, आज यह शस्यश्यामला हो रही है । इसलिए राणा जी का विचार है कि अब व्यर्थ रक्त-पात कर इसे पुनः ऊजड़ नहीं बनाना चाहिए।

गोविन्दसिंह—तुम क्या कह रहे हो, मेरी समझ में तो नहीं आया ! मेवाड़ से भी बढ़ कर भारत के अनेकों भाग शस्यश्यामल हैं । उन पर भी गगनचुम्बी अट्टालिकायें

हैं। फिर क्या उनका कभी कोई नाम भी लेता है ? क्यों मेवाड़ प्रत्येक भारतीय की जिह्वा पर प्रथम स्थान प्राप्त किए हुए है ? क्यों मेवाड़ के साथ वीरता और त्याग आदि उच्च पौरुष-भावनाओं का सम्बन्ध चला आता है ? केवल इसलिए न कि यहाँ के राणा ने—स्वर्गीय राणा प्रताप ने विलास को तिलांजलि देकर दरिद्रता का साथ स्वीकार किया था, उच्च अट्टालिकाओं को त्याग कर साधारण झोंपड़ों में निवास किया था ?

जय०—राणा जी का सम्भवतः यह भी विचार है कि अब मेवाड़ के लिए मुग़लों का मुक़ाबला असंभव है, अतः व्यर्थ रक्तपात न करना चाहिए।

गोविन्दसिंह—मेवाड़ के राणा अब तक स्वतन्त्रता-मन्दिर के पुजारी रहे हैं। उसी स्वतन्त्रता-वेदी पर उन्होंने अपनी, अपने परिवार और सहचरों की ही नहीं, बल्कि मेवाड़ के असंख्य नर-नारियों की बलि देकर उसे सुरक्षित रक्खा है। क्या उसी स्वतन्त्रता को 'असम्भव' इस एक ही शब्द की बाढ़ में बहा देना चाहते हो ? संसार में कोई बात असम्भव नहीं जयसिंहजी ! वीरों के कोष में 'असम्भव' की कोई सत्ता नहीं। स्वतन्त्र मेवाड़ की जो रक्त-ध्वजा सैंकड़ों वर्षों से आँधी, पानी और बिजली के आघातों की

भी परवाह न कर साभिमान फहरा रही है, क्या यह केवल शत्रुओं की लाल आँखों को देखकर गिर जायगी? ( आवेश में ) यह कभी न होगा! जब तक इस वृद्ध की अस्थियों में प्राण है, जब तक मेवाड़ के सेवक गोविन्दसिंह की धमनियों के रुधिर में स्वर्गीय राणा के खाये हुए नमक का मिश्रण है, तब तक मेवाड़ का सिर कभी शत्रु के सामने नत न होगा। जयसिंह जी, राणा को जाकर कह दो कि गोविन्दसिंह की आँखें चाहे फूट जायँगी, पर वह उनसे सन्धि-पत्र की ओर देखेगा भी नहीं।

जय०—मैं ने आपका आशय अच्छी तरह समझ लिया है सेनापति जी! आप ही जैसे मेवाड़ भक्तों के कारण मेवाड़ का सिर ऊँचा खड़ा है। आप दरबार में जा कर अपना आशय निर्भयता से प्रकट करें। हम सब सामन्त आपके साथ हैं। ( जाता है )

( पटाक्षेप )

## दूसरा दृश्य

( स्थान—उदयपुर, राजदरबार, राणा अमरसिंह सिंहासन पर बैठे हैं। उनके पास ही नीचे चौकी पर गोविन्दसिंह और दोनों ओर कई राजपूत सरदार बैठे हैं। )

राणा—आप लोगों को यहाँ पर बुलाने का कष्ट इसलिए दिया है कि आपसे मुग़ल सम्राट् जहाँगीर के साथ सन्धि की शर्तों पर परामर्श किया जाय।

शंकरसिंह—क्या इस बात का आपने निर्णय कर लिया है कि सन्धि होनी चाहिए या न होनी चाहिए ?

राणा—सन्धि करने का तो हमने निश्चय कर लिया है, क्योंकि—

जयसिंह—महाराज ! जिनके परामर्श से आपने सन्धि करने का निश्चय किया है, उन्हीं के परामर्श से इसकी शर्तों का भी निर्णय कर लीजिए।

कृष्णदास—मैंने तो सारी आयु रणचण्डी की गोद में ही खेलते-खेलते काटी है, उसी में रहने का मुझे अभ्यास है। अब उसे छोड़ कर हम और कहाँ आनन्द पा सकते हैं महाराज ?

राणा—कृष्णदास जी ! आप लोगों की वीरता का मुझे ही नहीं, समस्त मेवाड़ को अभिमान है, पर वीरता के साथ यदि बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता का सम्पर्क हो, तो ध्येय में फलप्राप्ति अवश्यंभावी होती है। सोचना यह है कि हमारा परिमित राज्य किस बलबूते पर शाहंशाह जहाँगीर की सेना का सामना कर सकेगा।

कृष्णदास—महाराज के स्वर्गीय पिता, प्रातःस्मरणीय महाराणा प्रतापसिंह जी किस बलबूते पर शत्रुओं का सामना करते रहे ? क्या उनमें बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता न थी ? क्या वे वीर न थे ?

राणा—उनकी बात छोड़िये कृष्णदास जी, वे पुरुष न थे।

कृष्णदास—किसी व्यक्ति का अनुकरण करने की क्षमता न हो, तो उस में दैवी शक्ति का आरोपण कर दो, बस पल्ला छूट जायगा। कैसा उत्तम ढङ्ग है असामर्थ्य प्रकट करने का !

जयसिंह—माना कि महाराणा पुरुष न थे, देवता थे। क्या वे राजपूत न थे ?

राणा—राजपूत थे, पर ऐसे राजपूत थे, जैसे श्रीकृष्ण जी यादव थे और मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी राघव थे। उन में वही दैवी शक्ति थी, जो वज्रपात में, भूकम्प में,

या सागर की ज्वार में होती है। वही उन में थी । हमारी उनसे क्या तुलना !

गोविन्दसिंह— (कुछ आवेश में) हम तो उस दैवी शक्ति का अनुकरण नहीं कर सकते राणा जी, पर आप तो कर सकते हैं—आपको करना ही चाहिए । आप उनके पुत्र हैं — उनके रुधिर से आपका रुधिर बना है, उनकी मज्जा से आपकी मज्जा बनी है, उनकी हड्डियों से आप की हड्डियाँ बनी हैं। हा दैव ! जिस महाराणा ने मेवाड़ की स्वतन्त्रता देवी को प्रसन्न करने के लिये युद्धानलकुण्ड को शान्त नहीं होने दिया, चाहे उस में अपने प्राणों की आहुति भी दे दी, उन्हीं के तनुज अपने प्राणों की रक्षा के लिये स्वतन्त्रता को शत्रु के हाथ बेचने पर तुले हैं ! कैसी विधिविडम्बना है।

राणा—गोविन्दसिंह जी, आप यदि स्वर्गीय महाराणा के गुण-गौरव को न जानेंगे, तो और कौन जानेगा ? आपने अपनी समस्त आयु उन्हीं के सुख-दुःख, सम्पति-विपति में सतत-सङ्गी रह कर बिताई है, पर परिवर्तित परिस्थितियों का भी कुछ विचार करना चाहिए। उस समय महाराणा ने जो किया था, वह उचित था, आज जो मैं करने को कह रहा हूँ, वही उचित है। उस समय मेवाड़ की सुख-संपत्ति, वैभव, शान्ति सब कुछ प्रायः नष्ट हो चुकी थीं। अतः उस

समय दुःख की मात्रा में यदि कुछ अधिकता हो भी जाती थी, तो दुःखाभ्यासिनी प्रजा को वह बहुत खटकती न थी। पर इस समय मेवाड़ की प्रजा कुछ दिनों से धनसम्पन्न और सुखी होकर आनन्दमय जीवन व्यतीत कर रही है, उसे कोई कष्ट नहीं है। क्या उस स्वतन्त्रता के लिये, जो एक अनुभूतिमात्र है, उसे फिर उसी विपत्तिजाल के धधकते अग्निकुण्ड में ढकेलना न्यायसंगत होगा? सोचो, गहरा सोचो गोविन्दसिंह जी, यह आपका और मेरा प्रश्न नहीं, यह सारी जनता के जीवन-मरण का प्रश्न है। यदि आप लोगों को रण में पराजय हुई—जो होगी ही यह मेरा निश्चय है—तो दासता का जुआ हमारी प्रजा के लोगों के कन्धों पर अधिक दृढ़ता से रक्खा जायगा। विजयशाली राजा के नये-नये करों के बोझ के नीचे दबी हुई प्रजा सदियों तक सिर न उठा सकेगी।

शंकरसिंह—हम लोग कर देंगे तब न? देखेंगे हम से कर लेने की किस में सामर्थ्य है?

राणा—जो विजय पायेगा, उसमें कर वसूल करने की भी सामर्थ्य होगी। इस समय तो थोड़ा सा कर देने से ही पल्ला छूट जायगा। इसी से हमारा सुख, शांति, धन, वैभव.........

गोविन्दसिंह—रहने दो राणा जी इन बातों को । मैं तो जानता ही नहीं कि सुख, शान्ति और वैभव क्या होते हैं। मैं तो कष्टों को ही जानता हूँ । बचपन से लेकर आज तक कष्टों की ही गोद में पला हूँ। मैंने आयु के पच्चीस उत्तम वर्ष स्वर्गीय राणा जी की चरणसेवा में बिताये हैं। उन्हीं के साथ जंगलों में भूखा-प्यासा घूमता रहा हूँ । धन-दौलत हम से कोसों दूर रही है, उसका हमें दर्शनमात्र भी नहीं हुआ, पर मैंने उसी अवस्था में—उन्हीं कष्टों की अवस्था में—असीम आनन्द भोगा है। सच कहता हूँ राणा जी ! जो आनन्द की पराकाष्ठा का घास-फूस के झोंपड़ों में अनुभव करते थे, वह आपकी अट्टालिकाओं में कहाँ है ? जो सुख हमें भूतल पर सोने में मिलता था, वह आप के रेशमी विस्तरों पर कहाँ है ? जो रस हमारे उन मक्के के रूखे-सूखे टुकड़ों में होता था, वह आपके षट्रस भोजन में कहाँ है ? उस सुख का क्या पूछना ! दूसरों के लिये दुःख भोगने में जो असीम सुख मिलता है, उसका वर्णन यह जिह्वा नहीं कर सकती। हम तो उस सुख के इच्छुक हैं महाराज ! उसी का हमें गर्व है। ( चुप हो जाता है )

अमरसिंह—सेनापति जी ! कहते जाइये, चुप क्यों हो गये ? आपकी

वात हमें पुनः उस सुवर्णमय अतीत का स्मरण करा रही हैं।

गोविन्दसिंह—उस अतीत का स्मरण कर क्या करोगे भैया! अब वे वातें कहाँ! जिस कुटिया में राणा रहते थे, उसको मैंने टूटते देखा—इन्हीं आँखों से टूटते देखा, और उसके स्थान पर विशाल अट्टालिका को खड़ा होते भी देखा। जिस मन्दिर में मेरे देवता रहते थे, उसकी ईंटों और पत्थरों से यह ऐश्वर्य-प्रासाद वनते देखा, जो पर्वत उसके वीर गर्जन से प्रतिध्वनित होते थे, उन्हीं में कलनादी कंठों के मधुर संगीतों को सुना। मैंने अपनी आँखों से जयसिंह जी, उस राजपूती शान और मान की सत्ता को धुआँ वनकर आकाश में उड़ जाते देखा। अव न वह महत्त्व है और न वह राजपूती शान, रह गई हैं केवल उच्च अट्टालिकायें और उनमें विलासिता और आमोद-प्रमोद! इस समय हमारा वह पूर्व महत्त्व मृत्युशय्यां पर पड़ा हुआ मेरी ओर दीन-क्षीण दृष्टि से देख रहा है और मैं इस अधमरी दशा में उसके लिये कुछ नहीं कर सकता। हा दैव!

शंकरसिंह—आप मरे नहीं सेनापति जी! आप जीते हैं, सदा के लिए जीते हैं, जब तक प्रतापसिंह की धवल कीर्त्ति दिग्दिगन्तों में व्याप्त रहेगी, तब तक आप जीवित हैं।

गोविंदसिंह—ऐसे जीने से क्या ! इससे तो मरना ही भला। अब मेरे वे दिन नहीं रहे। तलवार चलाना तो क्या, मैं उसे हाथ में पकड़ भी नहीं सकता। अब तो शरीर केवल अस्थि-पंजरमात्र रह गया है। इस समय तो यही इच्छा होती है कि फिर उन्हीं जङ्गलों में चला जाऊँ, और राणा जी की उन्हीं पवित्र स्मृतियों को अपने हृदय-मन्दिर में स्थापन किये जीवन के शेष दिन वहीं बिताऊँ।

राणा—गोविन्दसिंह जी, मेरे हृदय में भी मातृभूमि के लिए उतनी ही भक्ति है, जितनी आपके हृदय में है, पर मनुष्य परिस्थितियों का दास होता है, उसे सभी मानसिक प्रवृत्तियों को उन्हीं के अनुकूल ढाँचों में ढालना पड़ता है। आप देख रहे है कि समस्त भारतवर्ष ही मुग़ल राज्यसत्ता के आगे सिर झुकाये खड़ा है। ऐसी परिस्थितियों में राजपूताने का छोटा सा खंड मेवाड़, उसकी अवहेलना कब तक कर सकेगा ? इस समय दो समानबल राज्यों में जिस सन्धि के होने की संभावना है, वह फिर शायद विजित और विजेताओं में हो। आप समझ सकते हैं इन दोनों में कितना अन्तर होगा !

विंदसिंह—महाराज ! मैंने अपना निवेदन कर दिया है।

मैं सैनिक हूँ, मेरा काम लड़ने का है। मैं इन नीति की वातों से नितान्त अनभिज्ञ हूँ।

राणा—जो काम विग्रह या निग्रह नहीं कर सकता, वह कई वार नीति से सुसाध्य हो जाता है। उसी नीति का अवलंबन कर मैंने मुग़लसम्राट् से सन्धि करने की ठानी है। कोई है ?

( दौवारिक आता है )

दौवारिक—आज्ञा महाराज !

राणा—मुग़लदूत को बुला लाओ।

(दौवारिक जाता है)

गोविन्दसिंह—( ऊपर देख कर ) महाराज ! आप साक्षी हैं, आप अवश्य स्वर्ग से देख रहे हैं कि इस पतन में हमारा कुछ भी हाथ नहीं है, तो भी हम शरीर में प्राण रहते मेवाड़ में शत्रु का पदार्पण नहीं होने देंगे।

( दौवारिक के साथ मुग़ल दूत आता है )

राणा—( दूत से ) तुम अपने सेनापति को कह दो कि हम मुग़लसम्राट् से सन्धि करने को······

( सहसा मुक्तकेश सत्यवती का प्रवेश )

सत्यवती—( दूत से ) तैयार नहीं हैं। अपने सेनापति को कह दो कि मेवाड़ अपने आप को शत्रु के पदार्पण से कलुषित न होने देगा।

राणा—देवि ! तुम कौन हो ? मेवाड़ के भाग्याकाश पर अकस्मात् घोर-घनघटा बन कर छाने वाली तुम कौन हो ?

सत्यवती—मैं मेवाड़ की स्वतन्त्रता की संरक्षिका हूँ, मैं उसकी एक पगली परिचारिका हूँ। मैं चारणी हूँ। ( सामन्तों से ) मैंने आप लोगों की सब बातें सुनी हैं। यदि राणा के कन्धे आप के नायकत्व का भार उठाने को अक्षम हों, तो मैं आप का रणक्षेत्र में संचालन करूँगी।

गोविन्दसिंह—( उन्मत्त सा होकर ) यह देवी भूतलवासिनी नहीं है। महाराणा ने स्वर्ग से ही एक शक्ति हमारी शिथिल नसों में फिर यौवन का रक्त बहाने को भूतल पर भेजी है। अब हमें कोई भय नहीं। उठो, उठो वीरो ! अपने पूर्वजों के नाम उज्ज्वल करो, ( राणा का हाथ खींच कर ) आइये महाराज, अब सन्धि का नाम न लीजिये। हम लोग कुपथ गामी हो चले थे, महाराणा ने हमें इस दैवी शक्ति के द्वारा फिर सुपथ पर चलाया है।

राणा—गोविन्दसिंह जी ! चलिये, हम युद्ध करेंगे। जयसिंह जी ! रणक्षेत्र में चलने की तैयारी करो। समन्तगण ! हताश न हों, हम लड़ेंगे। ( दूत से ) अपने सेनापति से कह दो कि हम लड़ेंगे।

सत्यवती—मेवाड़ के राणा की जय !

सब—जय ! राणा अमरसिंह की जय !! महाराणा प्रतापसिंह की जय !!!

( पटाक्षेप )

---

## तीसरा दृश्य

स्थान—(मुग़लों की छावनी। एक बहुत बड़ी सेना, उसमें मुग़ल सेनापति हिदायतख़ाँ अपने ख़ेमे में एक सैनिक से बातें कर रहा है।)

हिदायत०—अली अहमद, मेरे ख़्याल में तो लड़ाई तक नौबत ही न आयेगी।

अली०—क्यों सरकार?

हिदायत०—क्या तुम्हें यह भी मालूम नहीं? मुझे पता नहीं था कि तुम इतने बेवक़ूफ़ हो। अरे भाई, जब इन लोगों को पता लगेगा कि फ़ौज की सिपहसालारी हिदायतख़ाँ को दी गई है, तो वे लोग पहले तो आने का हौसला ही न करेंगे और अगर किसी तरह से आ भी गये, तो हमारी सेना का सामना होते ही दुम दबा कर भाग जायेंगे।

अली०—आप राजपूत क़ौम को पहचानते नहीं, सरकार! यह ग़ज़ब की लड़ाकू क़ौम है। एक-एक राजपूत मर मिटेगा, पर लड़ाई के मैदान से मुँह न मोड़ेगा।

हिदायत०—तुम्हारा यह कोरा ख़्याल ही है।

अली०—कोरा ख़्याल नहीं, बिल्कुल सच्ची बात है। इन्होंने मानसिंह जैसे बहादुर सिपहसालार के भी दाँत खट्टे कर दिये थे।

हिदायत०—मानसिंह के दाँत खट्टे करने से उनकी कोई बड़ी बहादुरी साबित नहीं होती। मानसिंह बेचारा ख़ुद ही लड़ना नहीं जानता था, फ़ौज की सिपहसालारी क्या करता!

( बाहर से कोलाहल सुनाई देता है )

हिदायत०—अली अहमद, देखो बाहर कैसा शोर हो रहा है?

( अली अहमद जाता है )

हमारे सिपाहियों को कोई और काम तो है नहीं, इस लिए हँसी-दिल्लगी में ही अपना वक़्त काट रहे हैं। अभी तक राजपूतों का नामो-निशान भी नज़र नहीं आ रहा। वे आयेंगे ही नहीं, हिदायतख़ाँ के सामने ठहरने का किसे हौसला हो सकता है?

( अली अहमद आता है )

अली०—ग़ज़ब हो गया, सरकार!

हिदायत०—क्या हुआ अली?

अली०—राजपूतों ने हमारी फ़ौज पर धावा बोल दिया है।

हिदायत०—ऐं ! धावा बोल दिया है ? उनका ऐसा हौसला ! क्या हमारे सिपाहियों ने उनके धावे को रोका नहीं ?

( एक सिपाही आता है )

सिपाही—सरकार बचाओ ! बचाओ !!

हिदायत०—क्या हुआ ?

सिपाही०—सरकार, गोविन्दसिंह हमारी फ़ौज के सिपाहियों को गाजर-मूलियों की तरह काट रहा है ।

हिदायत०—क्या गोविन्दसिंह काट रहा है ! उस बूढ़े की बाजुओं में इतनी ताक़त ! मैंने तो सुना था कि वह मौत के दिन गिन रहा है ।

सिपाही—जब गिनता होगा, तब गिनता होगा, अब तो उसमें वह बल आ गया है, जो किसी जवान में भी न हो ।

हिदायत०— (अकड़ कर) क्या मुझ से भी ज्यादा बल उसमें है ?

( एक और सिपाही लोहू से लथपथ आता है )

दूसरा सिपाही—सरकार, आप यहाँ खड़े क्या कर रहे हैं ? फ़ौज में भगदड़ मच गई है, गोविन्दसिंह के पुत्र अजयसिंह के आगे हमारे सिपाही ऐसे भाग रहे हैं, जैसे भूखे भेड़िये के आगे भेड़ें । बाहर जाकर उनको भागने से रोकिये ।

हिदायत०—अगर वे भागना ही चाहते हैं, तो क्या मेरे रोकने रुकेंगे ? ( अपने आप ) एक ने कहा गोविन्दसिंह ग ढा रहा है, दूसरे ने कहा, उसका पुत्र अजयसिंह मार कर रहा है। दोनों बाप-बेटा क्या हुए—गोया साँप सँपोला हुए।

( एक और सैनिक नंगी तलवार लिये आता है )

तीसरा सिपाही—भागिये सरकार, वह साँप आपको काटने इधर ही आ रहा है।

हिदायत०—अली ! अवे ओ अली ! कहाँ गया वेवक़ूफ़ ! ठीक वक़्त पर बुज़दिल भाग गया।

तीसरा सिपाही—आप भी भाग जाइये, जल्दी भाग जाइये।

( ख़ेमे के बाहर फिर शोर होता है )

हिदायत०—मालूम होता है, वे लोग इधर ही आ रहे हैं। भागना ही पड़ेगा।

( नंगी तलवार लिये एक राजपूत सैनिक आता है )

सैनिक—भागकर कहाँ जायगा, कायर ! भागना था तो रण आया ही क्यों था ?

हिदायत०—(काँपता हुआ) जान देने थोड़े आया था। मेरी ज वख़्शो, मैं.........

(लोहू से भरी हुई तलवार हाथ में पकड़े गोविन्दसिंह का कुछ सैनिकों के साथ प्रवेश )

गोविन्दसिंह०—मत मारो इस कायर को । अपनी राजपूती तलवार को इस भीरु के रुधिर से अपवित्र मत करो वीर सैनिक !

हिदायत०—( गिड़गिड़ा कर ) अगर आप मुझे छोड़ देंगे, तो शाहंशाह से सिफ़ारिश.........

गोविन्दसिंह—हमें तुम्हारी सिफ़ारिश की ज़रूरत नहीं । तुम जैसे भीरु से हमारा कारागार भी अपवित्र हो जायगा । सैनिको ! इस नीच को छोड़ दो ।

(सैनिक हिदायतख़ाँ को छोड़ देते हैं, वह चला जाता है )

---

## चौथा दृश्य

( स्थान—उदयपुर का राजमहल, राणा अमरसिंह अपने कमरे में अकेले बैठे हैं। )

राणा—देवार के युद्ध में तो हमारी ही विजय रही। हमारे मुट्ठीभर राजपूत वीरों ने शाहंशाह की सेना को बहुत हानि पहुँचाई है, पर हमारी हानि भी कम नहीं हुई। सब चुने-चुने वीर खेत आ चुके हैं। पीछे जो बचे हैं, वे भी श्रान्त हो चुके हैं; परन्तु शत्रु की यह बात नहीं है। उसके पास न सेना की कमी है और न धन-दौलत की। यदि कहीं फिर युद्ध छिड़ गया, तब तो······

( गोविन्दसिंह आते हैं )

आइये सेनापति जी ! कुशल तो है ?

गोविन्दसिंह—आपकी कृपा से सर्वत्र कुशल है।

राणा—कहिये, आपका अचानक आगमन कैसे हुआ ?

गोविन्दसिंह—महाराज ! एक खबर देने आया हूँ।

राणा—कैसी खबर ?

गोविन्दसिंह—शत्रु पुनः आक्रमण करने का विचार कर रहा है।

सत्यवती—वीरों के मरने की चिन्ता न करें राणा जी ! वीरों के रक्त से भूमि की वीरोत्पादक शक्ति बढ़ती है। वे देश कभी नष्ट नहीं हुए, जिन में वीरों की रक्तप्रवाहिनी बही हो। देश सदा वे ही नष्ट होते हैं, जहाँ वीर नहीं मरते।

राणा—क्या यह पागलपन न होगा कि मुट्ठीभर वीर लेकर हम मुग़लों से लोहा लें ? यह तो काग़ज़ की नैया में बैठ कर अपार सागर को पार करने के प्रयत्न के समान होगा।

सत्यवती—यही पागलपन मनुष्य की सर्वोच्च भावनाओं में उच्चतम स्थान रखता है। इसी पागलपन से ही वीरता की सृष्टि होती है। इसी पागलपन की अग्नि को अपने हृदयों में जलाती हुई वीरात्मायें संसार में वे काम कर गई हैं, जिन्हें सुनकर ही हम लोग दाँतों तले अँगुली दबाये विस्मय-सागर में डूब जाते हैं। जिस के हृदय में यह पागलपन हो महाराज, उसे संसार के और किसी भी वैभव की आवश्यकता नहीं है।

राणा—पर तुम्हें पता है कि इस युद्ध का परिणाम क्या होगा ?

सत्यवती—हाँ, पता है। सर्वनाश ! सर्वध्वंस ! पर राणा जी ! यह मृत्यु परतन्त्रता के सौख्यमय जीवन से हज़ार गुणा श्रेष्ठ है। क्या राणा प्रताप के पुत्र को भी

यह समझाने की आवश्यकता है कि मृत्यु और पराधीनता में कौन श्रेष्ठ है ? क्या आप अपने पूर्वजों की धरोहर इस रत्न को—स्वातन्त्र्य-रत्न को मृत्यु के डर से डाकुओं के हवाले कर देंगे ? क्या यह विचार राजपूती शान के अनुकूल है ? यदि शत्रु हमारी स्वतन्त्रता छीनना ही चाहता है, तो मार-काट कर छीने। जन्मान्तर के सिद्धांत को मानने वाले हम हिन्दुओं को मृत्यु का कैसा भय ! क्या गीता के उन सुवर्णमय उपदेशों को भूल गये ?—( हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं, हत्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ) हमारे पूर्वजों के सामने तो मृत्यु का कोई प्रश्न ही नहीं रहा—वे तो 'शरीर बदलना और वस्त्र बदलना' इन दोनों को समान ही मानते रहे हैं।

राणा—चारणी ! तुम कौन हो ? तुम्हारे वचनों में वज्र का गर्जन और तुम्हारे नेत्रों में विद्युत् का प्रकाश है। तुम केवल चारणी नहीं हो, तुम मेवाड़ की सचमुच अधिष्ठात्री देवी हो। जब तक तुम हो, तब तक मेवाड़ का पतन नहीं हो सकता।

सत्यवती—आप आग्रह से पूछ रहे हैं, अतः मैं बता देती हूँ। मैं स्वर्गीय राणा के भाई सगरसिंह की कन्या सत्यवती हूँ। तुम्हारे काका की कन्या होने से तुम्हारी बहन हूँ।

राणा—तुम काका सगरसिंह की कन्या हो ?

गोविन्दसिंह—राणा सगरसिंह की कन्या। उसी सगरसिंह की कन्या, जो शाहंशाह की कठपुतली होकर नाच रहा है और मेवाड़ के ध्वंस करने की फ़िक्र में है।

सत्यवती—हाँ, मैं उसी अभागे पिता की अभागिनी कन्या हूँ। पिता के कुकर्मों का प्रायश्चित् कर रही हूँ। अपना सर्वस्व छोड़ कर मैं नगरों में, गाँवों में और जङ्गलों में घूम-घूम कर अपने पिता के विरुद्ध प्रचार कर रही हूँ, और मेवाड़ की रक्षा के लिये सेना जुटा रही हूँ।

राणा—धन्य हो वहन ! जिस देश के लिये वहन इतना कुछ कर रही हो, उसी के लिये भाई भी अपने प्राणों का उत्सर्ग कर सकता है। गोविन्दसिंह जी, सेना जुटाओ, हम लड़ेंगे, जब तक मेवाड़ का एक पुरुष भी खड्ग उठाने के लिए प्रस्तुत होगा, तब तक लड़ेंगे।

गोविन्दसिंह—इस बार मुगल सेना की वागडोर किस के हाथ में है ?

सत्यवती—इस बार शत्रु सेना का संचालक ( व्यंग्य से ) योग्य पिता का योग्यतर पुत्र, मेरा भाई महावतखाँ है, और उस के साथ जोधपुराधीश गजसिंह जी भी पधारे हैं। है न

सोने और सोहागे का मेल !

राणा—ऐसे ही विभीषण ने लंका का सत्यानाश किया था। भूमण्डल के किसी भी शत्रुकुठार में राजपूतविनाश की क्षमता नहीं, जब तक राजपूत-तरु की ही एक टहनी उस की मूठ न बन जाय। पर यहाँ तो बात ही और है—कुठार भी राजपूत है और मूठ भी राजपूत है।

गोविन्दसिंह—महावतखाँ को कौन राजपूत कहेगा? वह तो धर्मच्युत हो चुका है।

राणा—चाहे धर्मच्युत हो चुका हो, पर राजपूत-रुधिर तो उस में है।

सत्यवती—इस बात की आप चिन्ता न करें। धर्म हमारी ओर है, ईश्वर भी हमारी ओर है। ( यतो धर्मस्ततो जयः। )

( पटाक्षेप )

—:०:—

## पाँचवाँ दृश्य

(स्थान—मेवाड़ का बाहरी भाग, महावतख़ाँ का ख़ेमा।
महावतख़ाँ और गजसिंह बातें कर रहे हैं।)

गजसिंह—हमारी सेना की थकावट दूर हो चुकी है। अतः अब आक्रमण हो जाना चाहिये।

महावतख़ाँ—आप का कहना ठीक है। मुझे ख़ुशी है कि मेवाड़-ध्वंस के विषय में आप मुझ से भी अधिक उतावले हैं।

गजसिंह—उतावला होना ही चाहिये, सेनापति जी! शाहंशाह का नमक भी तो कुछ अदा करना चाहिये।

महावतख़ाँ—इस में क्या संदेह! (व्यंग्य से) अपने ही भाई-बन्धुओं का सर्वनाश करने से बढ़कर और किस तरह नमक अदा हो सकता है?

गजसिंह—बलिदान की मात्रा जितनी अधिक होती है, उतना ही नमकहलाली का अधिक आदर होता है।

महावतख़ाँ—आक्रमण के बारे में आपकी क्या राय है?

गजसिंह—मेरी राय वही है, जो आप की है। भला मैं क्या आप की राय से बाहर हो सकता हूँ?

महावतख़ाँ—मेरी राय में तो पहले चित्तौड़ के क़िले को घेर
ठीक होगा।

गजसिंह—यही ठीक है।

महावतख़ाँ—आप मेवाड़ के सब गाँवों को, एक सिरे से दूस
सिरे तक—जलाना शुरू कर दें।

गजसिंह—क्या यह काम मुझे करना होगा ?

महावतख़ाँ—इस में क्या हर्ज है। हिन्दुओं के धर्म के मुताबि
अन्त्येष्टि-संस्कार निजी, वल्कि वहुत ही समीपी भा
वन्धुओं के हाथ से ही होता है।

गजसिंह—आप ने युक्ति तो वहुत उचित दी है। अच्छी वात,
काम भी मैं करने को प्रस्तुत हूँ।

महावतख़ाँ—यदि आप यह काम करने को प्रस्तुत हैं, तो समझि
कि सफलता आपकी मुट्ठी में है। 'घर का भेदी लङ्का ढावे

गजसिंह—सेनापतिजी, इसमें भी नीति है। कोई चोर यदि चे
करता है, तो वह भी किसी भेदी की सहायता से
करता है।

महावतख़ाँ—(हँस कर) हमारा काम चोरी थोड़े है ?

गजसिंह—चोरी नहीं, सीनाज़ोरी तो है। (दोनों हँसते हैं)

महावतख़ाँ—एक वात का ख़्याल अवश्य रक्खें महाराज, कि
स्त्री को कोई कष्ट न होने पाये।

गजसिंह—जानबूझ कर कोई किसी स्त्री को क्यों कष्ट देगा,
आप 'सूखी लकड़ी के साथ गीली लकड़ी के जल ज

की कहावत को जानते ही हैं।

महावतखाँ—महाराज, आपने यह तो मुझ से पूछा ही नहीं कि गाँव-वगैरा जलाने में मेरा क्या आशय है।

गजसिंह—इस के जानने की क्या आवश्यकता? आप शाहंशाह के प्रतिनिधि हैं, आप कहें या शाहंशाह कहें, मेरे लिए दोनों का एक जैसा ही आदर है। दूसरे, 'एक ने कही दूसरे ने मानी, नानक कहें दोनों ज्ञानी'।

महावतखाँ—आप का कहना तो ठीक है राजा साहब, पर मेरा भी तो यह कर्तव्य है कि मैं अपनी हर एक चाल के आधार का आपको पूरा परिचय देता रहूँ।

गजसिंह—यह आपकी उदारता है, नहीं तो गजसिंह तो आज्ञापालन ही जानता है।

महावतखाँ—गाँव जलाने का मेरा यह मतलब है कि जब इन राजपूतों का कोई घरघाट ही न रहेगा, तो इधर-उधर कहीं और जाकर बस जायेंगे। तब न ये लोग इकट्ठे रहेंगे और न फिर मेवाड़ के उद्धार की चिन्ता करेंगे। सदा के लिये यह बखेड़ा मिट जायगा। वरना, इन्हें मारने-काटने से इस मामले का हल न होगा। राजपूत के खून में वीरोत्पादिनी उर्वराशक्ति है। जिस भूमि पर यह गिरता है वहाँ एक की जगह अनेकों दूसरे वीर उत्पन्न हो जाते हैं।

गजसिंह—आपने उपाय तो वहुत ठीक सोचा है । 'न रहेगा बाँस और न वजेगी बाँसुरी '। जिस भूमि पर इनका कोई घरबार न होगा, उस से इन की ममता ही क्यों होगी ?

महावतख़ाँ—अब आप अपना काम करें ।

गजसिंह—इसे हुआ समझिये । बात की बात में सब गाँव राख हुए समझिये । आज तो वायु देवता भी हमारा साथ दे रहा है । मुझे अब जाने की अनुज्ञा है ?

महावतख़ाँ—हाँ हाँ, आप जा सकते हैं । आपको काम में सफलता हो ।

(गजसिंह जाता है)

महावतख़ाँ—इस से पहले मेरा चित्त कुछ परेशान था । अगरचे मैं अब राजपूत नहीं रहा, तो भी राजपूतों के साथ ऐसा अत्याचार करने को मन नहीं मानता था । पर जब इन का सजातीय ही इन के सत्यानाश पर तुला है, तो मुझे क्यों हिचकिचाना चाहिए ! अब इन के अधःपतन में कुछ देर नहीं है ।

( पटाक्षेप )

---

## छठा दृश्य

( स्थान—उदयपुर का राजमहल । राणा और सत्यवती बातें कर रहे हैं )

राणा—अब क्या समाचार है बहन ?

सत्यवती—क्या बताऊँ ! लक्षण कुछ अच्छे नहीं दीख रहे ।

राणा—कारण ?

सत्यवती—कारण यह कि हमारे मुट्ठी भर सैनिक शत्रु की सेना की तुलना में दाल में नमक के बराबर भी नहीं हैं ।

राणा—तो फिर क्या ! अच्छा ही होगा, यदि सारी सेना मर मिटेगी । न मेवाड़ रहेगा और न मेवाड़ के निवासी रहेंगे । ( व्यंग्य से ) राजपूतों की लाज तो बच जायगी ।

सत्यवती—राणा जी, हिम्मत नहीं छोड़नी चाहिये । एक-एक राजपूत शत्रु के सौ-सौ सैनिकों के तुल्य है ।

राणा—इस में क्या सन्देह है, पर इस युद्ध के बाद कोई राजपूत खोजने पर भी न मिलेगा ।

सत्यवती—क्या कह रहे हो राणा जी ? राजपूतों पर जो विपदायें स्वर्गीय महाराणा जी के जीवनकाल में आई थीं,

वे क्या कम थीं ? जब उस विपत्तिसागर से पार हो कर राजपूत अब भी जीवित हैं, तो इसके बाद भी जीवित रहेंगे।

राणा—जीवित अवश्य रहेंगे, पर ऐसे जीवित रहेंगे, जैसे रुग्ण-शय्या पर पड़ा हुआ क्षयरोगी जीवित रहता है। जिस प्रकार उसका टिमटिमाता हुआ जीवनप्रदीप धीरे-धीरे क्षीण होता हुआ अन्त में बुझ जाता है, उसी तरह यह भी शनैः शनैः क्षीण होते हुए केवल नामशेष ही रह जायेंगे।

सत्यवती—तो क्या आप इस बार युद्ध के विरुद्ध हैं ?

राणा—बिल्कुल नहीं, मैं तो चाहता हूँ कि युद्ध जितना शीघ्र हो, उतना अच्छा। रुग्ण-शय्या पर पड़ा हुआ मेवाड़ कब तक इस जीवन्मृत की यन्त्रणा को भोगता रहेगा ?

सत्यवती—यदि युद्ध करना ही है, तो फिर हिम्मत नहीं हारनी चाहिए। डट कर शत्रु से लड़ना चाहिये।

राणा—इस समय युद्ध शत्रु से न होगा, अपने घर के लोगों से होगा। जब कभी सर्वनाश हुआ है, अपने भाइयों के हाथों से ही हुआ है। जयचन्द, मानसिंह और सगरसिंह जैसे कुपुत्र यदि भारतमाता की गोद में पल कर उसी का सर्वनाश न करते, तो आज हमारी मातृभूमि की दशा

कुछ और ही होती।

( गोविन्दसिंह आता है। )

गोविन्द०—(उद्विग्न सा) राणा जी, बचाइये ! बचाइये !!

राणा—क्या बात है सेनापति जी ! आप इतने उद्विग्न ?

गोविन्द०—महाराज ! दुष्ट गजसिंह और उस के सैनिक निर्दोष ग्रामीणों के घर जला रहे हैं ! मेवाड़ के आस-पास के सब गाँव जल कर राख हो चुके हैं।

राणा—गाँव जला रहे हैं ? उचित तो कर रहे हैं।

गोविन्द०—उचित कर रहे हैं ?

राणा—हाँ, उचित ही कर रहे हैं। यदि गाँवों को न जला देंगे, तो मेवाड़ का ध्वंस पूर्ण कैसे होगा ?

गोविन्द०—तो क्या आप मेवाड़ के ध्वंस पर राजी हैं ?

राणा—मैं राजी और नाराज़ होने वाला कौन ? ईश्वर राज़ी है। यदि वह राजी न होता, तो हमें युद्ध के लिए प्रेरित ही क्यों करता ? जलते अग्निकुण्ड में जान बूझ कर प्रवेश करने को हमें प्रेरणा ही क्यों करता ?

गोविन्द०—महाराज ! यदि आप युद्ध को दैवी प्रेरणा समझते हैं, तो फिर युद्ध करते क्यों नहीं ? प्रयत्न मानवाधीन है, पर उसका फल ईश्वराधीन है।

राणा—कौन कहता है कि मैं युद्ध नहीं करता ? देखते नहीं हो

मैं युद्धभूषा से सुसज्जित हूँ। पर गोविन्दसिंह जी! इतना प्रयत्न करने पर भी हम माता की रक्षा न कर सकेंगे—मुझे इस बात का बड़ा खेद है। यदि आप लोग उस समय मेरा कहना......अच्छा छोड़ो उस बात को, जिस का कोई उपाय ही न हो, उस का जिक्र ही क्या करें? इस समय आप के पास कितनी सेना है?

गोविन्दसिंह—कुल मिलाकर पाँच हजार होगी।

राणा—काफ़ी है, इससे अधिक सेना हमें न चाहिए। मरने के लिये इस से अधिक सेना की हमें आवश्यकता नहीं। महावतख़ाँ की सेना एक लाख होगी? मैंने सुना है, इतनी तो अवश्य है।

गोविन्दसिंह—एक लाख से भी अधिक है।

राणा—कोई बात नहीं, कोई चिन्ता नहीं। यदि शत्रु की सेना पाँच लाख होती तो अच्छा होता। बहिन सत्यवती ने कहा था कि एक-एक राजपूत शत्रु के सौ-सौ सैनिकों के तुल्य है।

गोविन्दसिंह—जीवट छोड़ने की बात नहीं, राणा जी! हमारे मुट्ठी-भर राजपूत ऐसी शूरता दिखायेंगे कि उन का नाम वीरता के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा रहेगा।

राणा—यही तो धैर्य देने वाली बात है, नहीं तो मेवाड़ का

विध्वंस—हमारी माता की मृत्यु—तो निश्चित है ही।

गोविन्दसिंह—माता किस की नहीं मरती ? पर जब हमारी माता मरेगी, तो हम भी उस के साथ मरेंगे।

राणा—गोविन्दसिंह जी, अब अधिक समय व्यर्थ खोने से काम न चलेगा। चलकर तैयारी करनी चाहिए।

गोविन्दसिंह—जैसे महाराज की इच्छा।

( दोनों जाते हैं )

—०:०—

## सातवां दृश्य

स्थान—(मुग़लों की छावनी, महावतख़ाँ का ख़ेमा, महावतख़ाँ और गजसिंह बैठे हैं।)

गजसिंह—सेनापति जी! आपने तो कमाल कर दिया।

महावतख़ाँ—इसमें अकेले मेरी क्या बहादुरी है? आप लोगों की सहायता के बिना मैं क्या कर सकता था?

गजसिंह—बात तो ठीक है, अकेला मनुष्य क्या कर सकता है, 'एक और एक ग्यारह' होते हैं। लेकिन विजयमाला तो सदा सेनापति के ही गले में डाली जाती है, चाहे विजयभवन दूसरे वीरों के लोहू, मज्जा और हड्डियों की नींव पर खड़ा हुआ हो।

महावतख़ाँ—आपकी बात बिल्कुल ठीक है, पर विजय का सेहरा हर एक सैनिक के सिर पर नहीं बाँधा जा सकता, यद्यपि यथार्थ विजय उन्हीं की ही होती है। सेनापति उन सब का प्रतिनिधि होता है, सेनापति की विजय प्रत्येक सैनिक की विजय है। हाँ, तो मैं यह बताना तो भूल ही गया कि यद्यपि विजय हमारी हुई है, पर—**हमारी**

एक लाख से भी ज्यादा सेना के मुक़ाबले में जो वीरता राणा और उनकी केवल पाँच हज़ार सेना ने दिखाई है, उसकी प्रशंसा यह जिह्वा नहीं कर सकती । वास्तव में विजय उनकी हुई है ।

गजसिंह—अजी, रहने दीजिये इन वातों को—यह तो आपकी उदारता है, जो शत्रु की इतनी प्रशंसा करते हैं—विजय उन्हीं की मानी जाती है, जिनकी होती है, कौन पूछता है संख्या को ? वे लोग इतनी थोड़ी सेना लेकर रणभूमि में आये ही क्यों थे ? हाँ, तो उनकी सेना कुछ वची भी है कि सब—

महावतख़ाँ—पाँच हज़ार में से केवल एक हज़ार वची है, चार हज़ार युद्ध-ज्वाला में स्वाहा हो गई है । हमारे सैनिक, ठीक मालूम नहीं कितने मरे हैं—मुझे वताया गया है कि कोई पच्चीस हज़ार मरे हैं ।

गजसिंह—यदि उनके एक हज़ार भी न वचते तो अच्छा होता, उनका बीजनाश हो जाता, तो आगे को यह खटका तो मिट जाता ।

महावतख़ाँ—आप राजपूत होकर भी राजपूतवंश को निर्मूल करने पर तुले हैं ?

गजसिंह—शत्रु शत्रु है, चाहे वह सजातीय हो, अथवा विजातीय ।

महावतख़ाँ—आपका मंतक़ तो ठीक है, पर इस पर अमल हो सके तब न। यद्यपि मैं राजपूत नहीं हूँ—चाहे पहले था, पर अब नहीं रहा, तो भी हर वक़्त यह ख़्याल मेरा पीछा नहीं छोड़ता कि मैं राजपूतवंश का हूँ और अमरसिंह का भाई हूँ। इसी ख़याल ने मुझे राणा की तारीफ़ करने के लिये कई बार मजबूर भी किया है। वे लोग तारीफ़ के लायक़ भी हैं, राजा साहब! वे भी आपकी तरह और मेरी तरह दिल्ली के तख़्त के आगे ज़रा सी ही गरदन झुका कर गुलछर्रे उड़ा सकते हैं, चैन की नींद सो सकते हैं, तो भी इस चैन के जीवन को तर्क कर, खाना-पीना तक भूल कर, जो अपनी जानों को हथेलियों पर लिये एक लाख के मुक़ाबले में पाँच हज़ार सिपाही लेकर जङ्ग के मैदान में आ खड़े हुए हैं, इसका आख़िर कोई वाजिब सबब होना चाहिये।

राजसिंह—सबब होगा, होना ही चाहिये, हमारे न्यायशास्त्र में आता है, 'बिना कारण के कार्य नहीं होता'।

महावतख़ाँ—सबब है, वह यह है कि उनके दिल में मातृभूमि की सेवा की ऐसी प्रचण्ड आग धधक रही है, जिसमें वे लोग धन-दौलत, शान-शौकत, कुटुम्ब-क़बीला, सब कुछ, यहाँ तक कि अपनी जानों तक को भी स्वाहा करने को

मुसलमान होने पर भी हिन्दू-सन्तान हैं, स्वर्गीय राणा के भतीजे हैं, इसलिए आपके हाथों से मरने में कुछ गौरव है।

महावतख़ाँ—आप सेनापति गोविन्दसिंह तो नहीं ?

गोविन्दसिंह—हाँ वही गोविन्दसिंह हूँ, जिसने राणा प्रतापसिंह के साथ मिलकर लगभग पचास युद्ध किये हैं। देखो महावतख़ाँ ! उन्हीं युद्धों के कारण मेरे शरीर पर इतने रोमकूप नहीं, जितने घाव हैं। मैं चाहता हूँ—अन्तिम घाव आपकी तलवार की चोट से ही हो।

महावतख़ाँ—सेनापति ! मैं आप पर चोट न करूँगा।

गोविन्दसिंह—मैं आपकी बात सुनना नहीं चाहता। शस्त्र उठाओ महावतख़ाँ ! आपको मैं अब भी राजपूत समझता हूँ, वीर समझता हूँ। मैं आप को दुर्ग में प्रवेश न करने दूँगा। मेरी आँखों के सामने मेवाड़ का ध्वंस पूर्ण न होने पायेगा, तलवार निकालो वीर !

महावतख़ाँ—मेरी तलवार आप पर न चलेगी, चाहे कुछ भी हो।

(गोविन्दसिंह तलवार निकाल कर महावतख़ाँ पर झपटता है, पीछे से गोली आकर उसकी पीठ पर लगती है, वह गिर जाता है।)

( हाथ में बन्दूक़ लिये गजसिंह आता है। )

महावतख़ाँ—यह बन्दूक़ आपने चलाई है महाराज ?

गजसिंह—मैंने ही चलाई है।

गोविन्दसिंह—क्या यह गोली गजसिंह की थी? हा दैव! मैं जो नहीं चाहता था, वही हुआ। तुम्हारे जैसे देशद्रोही के हाथ से मरने से तो नरक में गिरना उत्तम था। महावतख़ाँ, अब तुम क़िले में जा सकते हो। तुम्हें कोई न रोकेगा, रोकने वाला कोई रहा ही नहीं।

( सदा के लिये आँखें मूँद लेता है )

( पटाक्षेप )

## आठवाँ दृश्य

( स्थान—उदय सागर का तट, अमरसिंह अकेले खड़े हैं )

अमरसिंह—आकाश पर बादल घिरे हुए हैं। सर्वत्र सन्नाटा है, ऐसा सन्नाटा है, जैसा श्मशान में भी नहीं होता! ( सहसा आँखों में आँसू आ जाते हैं। ) मेवाड़ को छोड़े आज कई दिन हुए हैं। अब तो वह नाममात्र ही रह गया है, उसमें न अब प्राण हैं और न प्राणी हैं। उसके भाग्याकाश पर भी इसी तरह विपत्तियों के बादल घिरे हुए हैं। वहाँ भी ऐसा ही सन्नाटा है। श्मशान की चितायें जगह-जगह पर धक्-धक् जल रही हैं, वीरों की मज्जा और रुधिर की आहुतियों से चिताओं की ज्वालाओं ने उग्ररूप धारण किया हुआ है।

( महावतख़ाँ आता दिखाई देता है )

यह कौन आ रहा है?

महावतख़ाँ—( पास आकर ) क्या मैं राणा साहब के सामने खड़ा हूँ?

राणा—आइये जनाब, कहिये क्या हाल है? आज आपके

दर्शन इधर कैसे हुये ?

महावतख़ाँ—टहलता-टहलता इधर आ गया, तो सौभाग्य से मेवाड़ के शासक के दर्शन हो गये।

राणा—महावतख़ाँ, आप घाव करना ही नहीं जानते, वल्कि उस पर नमक छिड़कना भी जानते हैं।

महावतख़ाँ—राणा साहिव ! आप ने महावतख़ाँ को ठीक नहीं पहचाना।

राणा—शायद अव पहचान लूँ। मैं खुद आप से मिलना चाहता था।

महावतख़ाँ—कहिये क्या हुक्म है ?

राणा—हुक्म नहीं। एक विजित पुरुष हुक्म देने वाला कौन ? एक विनय है।

महावतख़ाँ—कहिये क्या हुक्म है ?

राणा—महावतख़ाँ ? जिस काम को तुमने अपने हाथ में लिया था, वह अभी अधूरा पड़ा है।

महावतख़ाँ—वह कौन सा काम है ?

राणा—मेवाड़ विध्वंस !

महावतख़ाँ—जो हम चाहते थे, वह हो गया है।

राणा—नहीं, अभी नहीं हुआ। जब तक मेवाड़ की स्वतन्त्रता का दीवाना अमरसिंह जीता है, तव तक मेवाड़ स्वतन्त्र है,

तुम्हारे आधीन नहीं हुआ। जब तक उस का अन्त न करोगे, तब तक विजयकुंड में पूर्णाहुति न पड़ेगी।

महावतख़ाँ—राणा को मारे बिना ही हम समझते हैं कि हमारा काम हो गया है।

राणा—तुम्हारा काम हो गया होगा, पर मेरा नहीं हुआ है। मैं इन आँखों से मेवाड़ शत्रु को जीता नहीं देख सकता, इसलिए मेवाड़ भूमि पर हम में से एक ही चल फिर सकेगा। तलवार निकालो।

महावतख़ाँ—मैं आप से द्वन्द्वयुद्ध न करूँगा। अब तक हम ने जो कुछ किया है न्यायानुकूल किया है।

राणा—न्यायानुकूल किया है? न्याय का नाम लेते लज्जा नहीं आती? मुट्ठी-भर सैनिकों का सामना करने के लिए एक लाख सेना से धावा करना न्याय है? एक साधारण चिनगारी को बुझाने के लिए समुद्र का प्रभाव छोड़ देना न्याय है? अच्छा छोड़ो इन बातों को। मैं तुम्हारे हाथों से मरना चाहता हूँ।

महावतख़ाँ—महावतख़ाँ योद्धा है, जल्लाद नहीं!

राणा—तो द्वन्द्वयुद्ध कर लो। उठाओ तलवार।

महावतख़ाँ—यदि आप लड़ाई के लिए तुले हैं, तो उठाइये तलवार।

(दोनों तलवारें निकालकर लड़ने को उद्यत् होते हैं। सहसा सत्यवती आकर उनके बीच में खड़ी हो जाती है।)

सत्यवती—जो कुछ होना था हो चुका, अब और सर्वनाश न होगा।

राणा—बहिन, क्या कह रही हो ? यह वही चारणी सत्यवती है या कोई और ?

सत्यवती—राणा जी, हर एक कार्य का कोई न कोई उद्देश्य होता है। जिस उद्देश्य से मैं चारणी बनी थी, उस की पूर्ति न हो सकी। भाग्य हमारे विरुद्ध था, परिस्थितियाँ भी विरुद्ध थीं। अब और रक्तपात की आवश्यकता नहीं।

राणा—क्या तुम शत्रु के रक्तपान से मुझे—

सत्यवती—भैया, महावतखाँ आप के शत्रु नहीं, भाई हैं। क्या हुआ जो इन्होंने धर्म बदल दिया है, फिर भी हैं तो आप के भाई ही ! भैया वस्तुतः सोचें तो यह भारत हम सब की—हिन्दू-मुसलमान, सब की—जननी है। इसी का दूध पीकर हम इतने बड़े हुए हैं, इसी के अन्न-जल से पल रहे हैं। इसकी सेवा करना हम सब का धर्म है। मेवाड़ का जो होना था सो हो गया, ईश को यही अभीष्ट था। अब मनोमालिन्य को प्रेमगङ्गा के प्रवाह से धो कर तुम्हें भाई-भाई की तरह गले मिलना चाहिये। यदि भारत की सब सन्तानें प्रेम से मिल कर रहेंगी, तो इन की

शक्ति के सामने कोई बाहरी शत्रु नहीं टिक सकेगा ।

राणा—तथास्तु ।

महावतखाँ—आमीन ।

( दोनों गले मिलते हैं )

( पटाक्षेप )

---

# प्रियदर्शी अशोक

# उत्थानिका

महाराज विन्दुसार के कर्मचारियों से तंग आकर तक्षशिला की प्रजा ने विद्रोह कर दिया था। प्रधानमंत्री के परामर्श से महाराज ने कुमार अशोक को उनके दमन के लिये भेजा। अशोक ने उग्रनीति के अवलम्बन के विना ही तक्षशिला-विद्रोह का दमन कर दिया। इससे अशोक प्रजा का स्नेहपात्र हो गया।

कुमार अशोक की अनुपस्थिति में महाराज विन्दुसार का देहान्त हो गया और पाटलिपुत्र का सिंहासन अशोक को प्राप्त हुआ। शासन की वागडोर हाथ में आते ही अशोक उग्र हो गया। उसकी राज्यविस्तृति की लालसा भी दिनों-दिन बढ़ने लगी। बौद्ध-संप्रदाय के नेता संपुटाचार्य की उत्तेजना उस की अभिलाषा में अग्नि में घी का काम दे रही थी।

संपुटाचार्य की प्रेरणा से अशोक ने कलिंगाधीश मृगेन्द्र पर आक्रमण कर दिया। खूब घमसान हुआ, विजय की आशा तो दूर रही, अशोक का पक्ष निर्बल होने लगा।

अशोक संधि करने को तैयार था, पर संपुटाचार्य ने कूटनीति से मृगेन्द्र के सेनापति को अपने पक्ष में लेकर मृगेन्द्र को हरा दिया। राजकुमार जितेन्द्र बन्दी होकर अशोक के समक्ष लाया गया। इतने में संपुटाचार्य की कूटनीति का भाँडा फूट गया। अशोक को इस पर अत्यन्त खेद हुआ। उसने मृगेन्द्र को मुक्त कर दिया और कलिंग का राज्य उसे पुनः लौटा दिया।

—०:०—

# पात्र

विन्दुसार……………………पाटलिपुत्राधीश
राधागुप्त……………………विन्दुसार का मन्त्री
अशोक……………………विन्दुसार का पुत्र
संपुटाचार्य……………………बौद्ध धर्म का आचार्य
मृगेन्द्र……………………कलिंगाधीश
जितेन्द्र……………………मृगेन्द्र का पुत्र
सिपाही……………………सैनिक
सैनिक……………………दोनों पक्षों के
नागरिक……………………तक्षशिला के

( स्थान—पाटलिपुत्र। महाराज विन्दुसार सिंहासन पर वैठे हैं, उन के दक्षिणपार्श्व में प्रधानमन्त्री राधागुप्त और वामपार्श्व में कई और दरवारी वैठे हैं। )

विन्दुसार—राधागुप्त जी, जो दूत तक्षशिला को भेजे थे, क्या वे लौटे हैं ?

राधागुप्त—वे आज ही आये हैं महाराज !

विन्दुसार—वे क्या समाचार लाये हैं ?

राधागुप्त—समाचार तो कुछ सन्तोषजनक नहीं, अन्नदाता !

विन्दुसार—क्या उन लोगों ने विद्रोहाचरण नहीं छोड़ा ?

राधागुप्त—नहीं महाराज ! उल्टे विद्रोह प्रतिदिन वढ़ रहा है।

विन्दुसार—यह वात !

राधागुप्त—इतना ही नहीं सरकार ! उन लोगों ने सव राज-करों को देना वन्द कर दिया है।

विन्दुसार—उनका साहस यहाँ तक बढ़ गया है ?

राधागुप्त—यह भी पता लगा है कि राजभक्त लोग तक्षशिला को छोड़ कर भाग रहे हैं। वहाँ पर उन लोगों के प्राण रात दिन ख़तरे में हैं।

विन्दुसार—क्या हमारे कर्मचारी भी उनकी रक्षा नहीं कर सकते ? तब तो मामला बहुत विकट हो गया है। परिस्थिति के यहाँ तक बिगड़ जाने का कोई कारण भी पता लगा ?

राधागुप्त—कोई विशेष कारण तो पता नहीं लगा, इतना ही सुना है कि तक्षशिला के लोग पाटलिपुत्र के आधीन रहना नहीं चाहते।

विन्दुसार—इन सब घटनाओं से तो यही स्पष्ट होता है।

एक सरदार—इस विद्रोह का शीघ्र ही दमन करना चाहिए महाराज ! कहीं यह आग और प्रान्तों में भी न फैल जाय।

दूसरा सरदार—यदि यह अन्य प्रान्तों में भी फैल गई, तो इस का दमन बहुत कठिन हो जायगा।

राधागुप्त—विद्रोहाग्नि को दावाग्नि की तरह उग्र रूप धारण करते देर नहीं लगती, और फिर यदि उस में ईर्ष्या, मत्सर और लोभ की आहुतियाँ पड़ने लगें, तब तो साहस की थोड़ी-सी

वायु भी इसे देश के एक छोर से दूसरे छोर तक बात की बात में फैला देती है।

विन्दुसार—आपका कहना सत्य है मन्त्री जी, पर इस अग्नि को शान्त करने का कोई उपाय भी सोचा है ?

राधागुप्त—सोचा है महाराज ! पर उसे निवेदन करने में जरा संकोच होता है।

विन्दुसार—संकोच कैसा राधागुप्त जी ! यदि उपाय परिस्थिति के अनुकूल होगा, तो उस के अनुष्ठान में मैं कोई ननु-नच न करूँगा।

राधागुप्त—मेरे विचार में तो विद्रोह-दमन का कार्य कुमार अशोक के सुपुर्द करना चाहिए। वह इसे कुशलता और धीरता से कर सकेगा।

विन्दुसार—आप का विचार तो अत्युत्तम है, पर........

राधागुप्त—महाराज, कोई चिन्ता की बात नहीं। मैं कुमार को अच्छी तरह जानता हूँ। इस कार्य को सम्पादन करने की उसमें पूरी क्षमता है।

विन्दुसार—उसकी आयु का भी कुछ विचार किया है ?

राधागुप्त—शार्दूल-शावक भी शार्दूल ही होता है।

विन्दुसार—यह तो ठीक है, पर अंगप्रत्यंगों के परिपक्व होने से पूर्व तो शार्दूल-शावक भी कुछ नहीं कर सकता। फिर

अशोक की तो बुद्धि और बल दोनों ही अभी अपरिपक्व हैं।

राधागुप्त—इसकी चिन्ता न करें। अशोक को मैं शैशवावस्था से जानता हूँ—मेरी गोद में ही वह अबोध शैशव से कौमारावस्था को पहुँचा है। उसमें बुद्धि भी है और बल भी है, और साथ ही हैं दृढ़ता और नीतिपटुता। इन सब की सहायता से वह तक्षशिला के विद्रोह का दमन अवश्य कर सकेगा।

बिन्दुसार—गुप्त जी! यदि कुमार की शक्तियों के सम्बन्ध में आप की यह धारणा है, तो मुझे उसे भेजने में कोई आपत्ति नहीं।

राधागुप्त—आपत्ति होनी ही न चाहिए अन्नदाता! अशोक आज कौमारावस्था में है और कल यौवनावस्था में पदार्पण करेगा, जब आप अपने कन्धों से प्रजाशासन के भार को उतार कर उसके कन्धों पर रक्खेंगे। अतः उस बोझ को उठाने से पूर्व ही उसके कन्धों को क्यों न सुदृढ़ और उस बोझ को वहन करने के लिए सशक्त और अनुभवशाली बना दिया जाय! आखिर यह भी तो सोचना है महाराज, कि जो कार्य आप अपने पुत्र को नहीं देना चाहते, उसे दूसरा कोई क्यों स्वेच्छा से करने को सहमत होगा। किन्तु जिस कार्य को राज

कुमार स्वयं करने को उद्यत् होगा, उसे सम्पादन करने को प्रत्येक व्यक्ति आगे बढ़-बढ़ कर सहयोग देगा।

बिन्दुसार—आपकी धारणा बिल्कुल ठीक है मन्त्री जी, मैंने कुमार को भेजने का निश्चय कर लिया है।

राधागुप्त—तब तो और अधिक समय नष्ट न करना चाहिए।

बिन्दुसार—मेरा भी यही विचार है। कोई है?

( दौवारिक आता है )

दौवारिक—( प्रणाम कर ) आज्ञा महाराज!

बिन्दुसार—युवराज को बुला लाओ।

दौवारिक—जो आज्ञा। ( प्रणाम कर के जाता है )

बिन्दुसार—मन्त्री जी, क्या अकेले कुमार को इस धधकते हुए अग्निकुण्ड में झोंकना अनुचित न होगा?

राधागुप्त—इस पर मैंने पहले ही विचार कर रक्खा है।

बिन्दुसार—क्या?

राधागुप्त—कुमार के साथ सेनापति भी अपने साथ चुने हुए वीर लेकर जायेंगे।

बिन्दुसार—तब तो ठीक है।

( कुमार अशोक आता है, वह पहले महाराज को और फिर मन्त्री को प्रणाम करता है )

अशोक—महाराज ने इस दास को क्यों स्मरण किया है?

विन्दुसार—कुमार, तुम देख ही रहे हो कि मैं प्रतिदिन बूढ़ा होता जा रहा हूँ । मेरे पश्चात् इस विशाल राज्य का भार कैसे कन्धों को उठाना पड़ेगा, इसे जानने को मेरी इच्छा कव से प्रवल हो रही है । उस इच्छा के पूर्ण होने का अवसर अव मिला है ।

अशोक—मेरा सौभाग्य ।

राधागुप्त—युवराज, विश्वस्त सूत्र से पता लगा है कि तक्षशिला की प्रजा ने हमारे विरुद्ध विद्रोह कर दिया है । उसे दमन करने के लिए महाराज आप को तक्षशिला भेजना चाहते हैं ।

अशोक—पित्राज्ञा पालन करने को अशोक सदा तत्पर रहता है । पर यह भी कुछ पता लगा है कि उनके विद्रोह का कारण क्या है ?

विन्दुसार—इस का पता लगाना भी तुम्हें भेजने का एक उद्देश्य है ।

अशोक—वहुत अच्छा ।

विन्दुसार—वेटा, दमन कार्य के कई साधन हैं । तुम्हें ही यहाँ भेजने का मुख्य उद्देश्य यह है कि तुम इस कार्य को निपुणता से कर सकोगे । तक्षशिला के लोग आखिर हमारी ही प्रजा हैं । राजा और प्रजा का सम्बन्ध

पिता-पुत्र का होता है। इसलिये यह कार्य यथासम्भव दृढ़ता, पर धैर्य और सहनशीलता से करना होगा। औषधि की कटुता यदि किसी प्रकार कम हो जाय, तो रोगी को उसके सेवन में कोई आपत्ति नहीं होती, साथ ही उसके प्रभाव में भी कुछ न्यूनता नहीं होती।

अशोक—मैं आप के आशय को अच्छी तरह समझ गया हूँ पिता जी, आप की आज्ञा का यथाशक्ति पालन होगा।

बिन्दुसार—मुझे इस में तिलमात्र भी सन्देह नहीं।

राधागुप्त—अब तैयारी में कुछ विलम्ब न होना चाहिये।

अशोक—मैं तैयार हूँ ( शुभस्य शीघ्रम् )

( प्रणाम करके जाता है.)

बिन्दुसार—मेरा यह विश्वास प्रतिक्षण दृढ़ होता जा रहा है कि अशोक मेरा योग्यतर उत्तराधिकारी होगा।

राधागुप्त—मेरे मन में तो यह विश्वास कब का जम चुका है।

(आगे-आगे महाराज, फिर मन्त्री और उनके पीछे सब दरबारी चलने लगते हैं।)

एक दरबारी—(चलता चलता, धीरे से) अच्छा हुआ, जो यह आँधी हमारे सिर के ऊपर से ही निकल गई है।

दूसरा—आँधी क्या, यह तो एक भयंकर बाढ़ थी। अच्छा हुआ इस का मुख दूसरी ओर हो गया, नहीं तो न मालूम हम में

से कौन इसमें वह जाता ?

तीसरा—विद्रोह एक भयंकर भूत है भाई साहब ! जिस के सिर पर यह सवार होता है, वह ऐसा पागल हो जाता है कि कुछ न पूछो ।

चौथा—आप लोगों की बातें मेरी समझ में नहीं आतीं। जिस गाड़ी में हम लोग सवार हैं, यदि वह दलदल में फँस जाय, तो क्या हम सब को अपनी गरदनें धुरे के नीचे देकर उसे नहीं उठाना चाहिए ?

पाँचवाँ—आप ने बिल्कुल उचित कहा है। महाराज की जो भी आज्ञा होती, उस का पालन करना ही पड़ता। इतने समय से जो महाराज का नमक खा रहे हैं, उसका अदा करना भी तो हमारा कर्तव्य है !

पहला—ऐसी बातें तो तब कह रहे हो, जब साफ़ बच गये हो। नहीं तो······

दूसरा—नहीं तो आटे दाल का भाव याद आ जाता।

चौथा—भैया ! तुम्हारा दोष नहीं, हर एक मनुष्य की अपनी प्रकृति होती है। तुम लोग बढ़ती के साथी हो।

( सब बातें करते-करते बाहर निकल जाते हैं। )

( पटाक्षेप )

—:o:—

## दूसरा दृश्य

(स्थान—तक्षशिला का एक बहुत बड़ा मैदान, वहाँ पर हज़ारों लोग बैठे हैं। बीच में एक उच्च मंच पर एक चौकी और उस पर कुछ आसन धरे हैं।)

एक नागरिक—क्या अभी युवराज नहीं आये ?

दूसरा नागरिक—उन के आने का समय तो कभी का व्यतीत हो चुका है।

(एक राज कर्मचारी आता है।)

राजकर्मचारी—(मंच के पास खड़ा होकर) सज्जनो ! युवराज अशोक ने आप लोगों के लिए यह संदेश भेजा है कि किसी आवश्यक कार्यवश उन्हें यहाँ पहुँचने में कुछ देर होने की संभावना है, अतः आप उन के आने तक यहीं पर उपस्थित रहने की कृपा करें।

एक नागरिक—हमें यहाँ उनकी प्रतीक्षा करते एक पहर हो चुका है, और अधिक न ठहर सकेंगे।

दूसरा नागरिक—जब हम लोग आ गये हैं, तो युवराज के कथन को सुनकर ही लौटेंगे। जब तक वे न आयें, तब

तक शान्तिप्रिय जी ही कुछ कह दें।

सब लोग—ठीक है, ठीक है।

शान्तिप्रिय—( उठकर और मंच के पास खड़ा होकर ) बन्धुओ ! हमें कहा गया है कि युवराज अशोक हमारे नगर में पधारे हैं, हम उन का यथोचित स्वागत करते हैं। इसलिए नहीं कि वे युवराज हैं, बल्कि इसलिए कि वे हमारे अतिथि हैं। अतिथि चाहे शत्रु हो, उस का स्वागत करना मनुष्य जाति का धर्म है। हम अपने शासकों तक अपने कष्टों की करुणगाथा कई बार पहुँचा चुके हैं, पर उन्होंने उसकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया, उन के कान पर जूँ तक नहीं रेंगी। जब हमारा दम नाक तक आ गया, तो हमने विद्रोह किया, वह भी विवश होकर। विद्रोह का समाचार सुनते ही महाराज ने युवराज को यहाँ भेजा है, इसलिए नहीं कि हमारी करुणगाथाओं को सुनें और उन का प्रतिविधान करें—कदापि नहीं, बल्कि इसलिए कि विद्रोह का दमन करें, उसके लिए चाहे उन्हें उग्र से उग्र साधनों का भी प्रयोग करना पड़े। महाराज के कर्मचारियों द्वारा जो कष्ट हमें हो रहे हैं—क्या वे आप भूल गये ?

कई लोग—( एक स्वर से ) कदापि नहीं।

शान्तिप्रिय—छोटे-छोटे अपराधों के लिए भी जो कड़े-कड़े दण्ड दिए जाते हैं, क्या उनका आपको स्मरण नहीं ?

कई लोग—( एक स्वर से ) हमें सब कुछ स्मरण है।

शान्तिप्रिय—हमारे पिता, हमारे पुत्र, हमारे मित्र और बन्धु क्षुद्रातिक्षुद्र अपराधों के लिए भी राजकीय कारागारों में बन्द किये हुए नारकीय यातनाओं को भोग रहे हैं। क्या उनके कष्ट आप भूल गये ?

कई—उन्हें हम कैसे भूल सकते हैं ?

शान्तिप्रिय—पाटलिपुत्र के शासन के आधीन हमें न रहने का सुख है और न खाने पीने का सुख है। हमारे गाढ़े पसीने की सब की सब कमाई राजकीय करों के रूप में हम से छीन ली जाती है। दिन की कड़ी धूप में रात के तीव्र शीत में काम करते हैं हम, और उस परिश्रम का फल भोगते हैं हमारे शासक। हम ही अन्न को उपजाने वाले हों और हमारे ही बाल-बच्चे दाने-दाने के लिये तरसते रहें ! कितना अनर्थ है ?

कई लोग—हम इस अनर्थ का अन्त कर के ही दम लेंगे।

शान्तिप्रिय—जो कुछ हमारे पास रह भी जाता है, उसे राज-कर के रूप में छीन लिया जाता है। जिन साधनों के द्वारा

आप से कर वसूल किये जाते हैं, उन की दारुणगाथा आप से क्या छिपी है ? क्या आप लोग उन करों से राजकोष को भर कर अपनी ही सत्ता मिटाने को तैयार हैं ?

कई लोग—कदापि नहीं। हम अपनी सत्ता मिटाने वालों की ही सत्ता मिटा देंगे।

शान्तिप्रिय—हमारे राजा हमारे अपने नहीं हैं। वे हज़ारों कोसों की दूरी पर बैठे हुए कर्मचारियों के द्वारा हमारा शासन कर रहे हैं। उन की हमारे साथ क्या सहानुभूति हो सकती है ? क्या आप लोग पाटलिपुत्र के शासन के आधीन रहना पसन्द करेंगे ?

सब लोग—कदापि नहीं।

शान्तिप्रिय—युवराज को तक्षशिला में आये इतना समय गुज़र गया है, तो भी हमें यहाँ पर एकत्र होने की आज्ञा देकर वे आप अब तक नहीं आये।

एक नागरिक—इस में भी उन की कोई चाल होगी।

दूसरा—चाल तो है ही, हम लोगों को यहाँ बुला कर, पीछे निर्जन शहर में निर्बल बालकों और अबला नारियों पर दमन का दौर शुरू होगा।

कई लोग—( एक ही बार ) यही बात है, यही बात है। चलो घरों को चलें।

सब लोग—हाँ हाँ, घरों को लौट चलें, इसी दम लौट चलें। यदि वे मारना जानते हैं, तो हम भी मरना जानते हैं।

शान्तिप्रिय—इस अपमान से तो मौत ही अच्छी है।

( सहसा अशोक का प्रवेश, शान्तिप्रिय मंच छोड़कर जनता में जा बैठता है )

अशोक—( जल्दी से मंच पर चढ़ कर ) मेरे प्यारे प्रजाजनो! मैं आ गया हूँ। आप लोगों के लौटने की कोई आवश्यकता नहीं। कुछ देर अवश्य हो गई है, उस के लिये क्षमा करें।

कई लोग—हम लोग क्षमा करने वाले कौन! युवराज, आप ही हम लोगों को क्षमा करें। हम लोग जोश में आकर न मालूम क्या कुछ बकते रहे।

अशोक—इस की कोई चिन्ता न करें। ऐसे अवसरों पर ऐसी बातें हो ही जाती हैं। मैं महाराज की आज्ञा से आप लोगों के सामने इसलिए उपस्थित हुआ हूँ कि आप लोगों को यह बताऊँ कि मेरे पिता, आप के सम्राट्, आपके विरुद्ध नहीं हैं। वे आप को पुत्रवत् समझते हैं। यदि आप लोगों से कुछ भूलें हो गई हों, तो वे क्षमा करने को तैयार हैं, यदि आगे को आप........

एक नागरिक—( खड़ा हो कर ) हमें महाराज के विरुद्ध कोई

गये हैं। फिर वे पहले की तरह स्वच्छ हो गये हैं। अब फिर तुम्हारे जैसे लोगों की बातों से बहक कर हम उन्हें कलुषित न होने देंगे। विद्रोह की आग जंगल की आग सी होती है, जिसे भड़कते और बुझते देर नहीं लगती।

एक नागरिक—यह तभी बुझ पाती है, जब शान्तिप्रिय से विद्रोही उस में घी डालने का काम न करें।

( सब लोग चले जाते हैं )

( पटाक्षेप )

## तीसरा दृश्य

(स्थान—पाटलिपुत्र, महाराज रुग्ण-शय्या पर पड़े हैं। पायँते बैठी महारानी जी उन के पाँव दबा रही हैं।)

विन्दुसार—मेरी दशा प्रतिक्षण विगड़ती जा रही है। उठा क्या, अब तो बोला भी नहीं जाता।

रानी—चिन्ता की कोई बात नहीं स्वामी! जल्दी अच्छे हो जाओगे। आखिर अवस्था भी तो·················

विन्दुसार—अवस्था की तो बात है ही। अब से पूर्व भी मुझे कई वार भीषण रोगों की यातना भुगतनी पड़ी है, पर मैं कभी निराश नहीं हुआ। इस समय मन ही यह कह रहा है कि ·····

रानी—( बात काट कर ) ऐसे अशुभ वचन मुख से न निकालो हृदयेश! क्या वैद्य जी को बुला भेजूँ ?

विन्दुसार—वैद्य जी के बुलाने से क्या होगा? जब अन्त होने को होता है, तो नाड़ी वैद्यराज के हाथ में होती है और प्राण प्रयाण कर जाते हैं।

रानी—इस का यह आशय नहीं कि उपचार करना ही न चाहिए।

विन्दुसार—यह कौन कहता है कि उपचार करना ही न चाहिए ?

( गला रुक जाता है। कुछ मूर्छित होने लगते हैं )

रानी—आप की दशा तो वास्तव में विगड़ रही है। मैं वैद्य जी को अभी............

विन्दुसार—( धीरे स्वर से ) पानी !

( रानी पानी पीने को देती है )

विन्दुसार—( कुछ सचेत होकर ) वास्तव में वात यह है प्रिये ! कि अव मुझे जाना ही चाहिए, मैं जाना चाहता भी हूँ ? इस समय की मेरी यात्रा अत्यन्त सुखमय होगी। (रुककर) कुछ समय पहिले मुझे भविष्य की चिन्ता थी। जब कभी इतने विस्तृत राज्य का मुझे ख़्याल आता, तो मेरा दिल वैठ जाता। चिन्ता होती कि इसे कौन सँभालेगा। वह चिन्ता अव मिट गई है। जब से कुमार अशोक ने तक्षशिला के विद्रोह का आशातीत सफलता से दमन किया है, और तत्पश्चात् उसकी शासन-डोर को अपने हाथ में लेकर राज्य की ऐसी सुव्यवस्था की है कि जो हमारी प्रजा पहले प्राणहारक शत्रु थी, वही अव हमारे गुणगायन करते श्रान्त नहीं होती, तव से मेरी अन्तरात्मा को शान्ति और सन्तोष मिला है। जिस कार्य के लिये मैं इस पुराने पिंजड़े में अपनी आत्मा को वन्द कर रखना चाहता था, वह

तो हो गया है, और ऐसी पूर्णता से हो गया है कि जिसकी कभी आशा न हो सकती थी। अब मेरी आत्मा इस जर्जरित शरीर को छोड़ना चाहती है।

रानी—आप का कहना यथार्थ है। हमें अशोक की दक्षता, नीति-निपुणता और प्रजा-वत्सलता पर गर्व है। आप के तनिक भी स्वस्थ होते ही हम अपने ही हाथों से उस के सुयोग्य और सुदृढ़ कन्धों पर राज्य शासन का भार और मस्तक पर राजमुकुट रख कर वन-यात्रा के लिए प्रस्थान कर देंगे।

विन्दुसार—तुम्हारा कथन तो ठीक है, और शास्त्रमर्यादा भी हमें यही करने को वाधित करती है, पर हमारे विचार ईश्वर को स्वीकृत हों तब न!

रानी—यह कैसे हो सकता है कि वीजारोपण के वाद जिस वृक्ष के मधुर फल के आस्वादन के लिए हम वर्षों से लालायित रहते रहे हों, उस के ठीक पकने के अवसर पर हम उस से वंचित् रह जायँ।

विन्दुसार—यह वात भली कही। कर्मगति एक अति विचित्र पहेली है। उसे अब तक कोई नहीं बूझ सका। रघुकुलावतंस महाराज दशरथ ने क्या पाप किया था, जिस के लिए उन की वह आशा, जिस को हृदय में धारण किये वे वृद्धा-

वस्था तक पहुँच गये थे, अदृष्ट कर्मों की एक ही गति से भग्न होकर चूर हो गई और जिस पुत्र को सिंहासन देने को उत्सुक थे, उसे उन्हें अपने ही मुख से वनवास देना पड़ा।

रानी—आज आप को क्या हो गया है प्राणधन! ऐसी बातों से मेरा हृदय विक्षुब्ध हो रहा है।

( राधागुप्त का प्रवेश )

राधागुप्त—क्या मुझे प्रवेश की अनुज्ञा है?

विन्दुसार—( धीमे स्वर में ) आइए मंत्री जी! मैंने ही तो आप को बुलवाया है। ( राधागुप्त महाराज के पलंग के पास आकर खड़ा हो जाता है। रानी उठकर चली जाती है। )

राधागुप्त—( महाराज के पास चौकी पर बैठ कर ) इस समय आपने इस दास को स्मरण करने का कष्ट क्यों उठाया?

विन्दुसार—राधागुप्त जी, आप कई दिनों से देख ही रहे होंगे कि मेरा अन्त प्रतिदिन समीपतर आ रहा है। इसलिए आप के साथ कुछ आवश्यक विषयों पर परामर्श करना चाहता हूँ।

राधागुप्त—महाराज, ऐसी अशुभ बातें मुख से न........

विन्दुसार—रहने दीजिये इन बातों को मंत्री जी! मैं अपनी अवस्था आप खूब जानता हूँ। मुझे अन्धकार में रखने

से क्या लाभ ? मैं आप से सत्य कहता हूँ गुप्त जी, अब मरने में मुझे तनिक भी चिन्ता और विक्षोभ नहीं है। बल्कि अब मैं शान्ति और सुख की मौत मर सकूँगा। इस विशाल राज्य का बहुत बोझ जो सदा मेरे हृदय को दबाये रहता था, उठ गया है। अब मेरा हृदय शान्त है।

राधागुप्त—यह तो होना ही चाहिए अन्न दाता ! ईश्वर ने जैसी सन्तान आपको दी है, वैसी स्यात् ही और किसी के भाग्य में होगी।

बिन्दुसार—बात तो यही है, परन्तु मैं जानता हूँ कि अशोक अभी बालक है। उस की बुद्धि अभी पूर्ण परिपक्व नहीं हुई, और नाहीं अभी उसे इतना अनुभव है कि वह पाटलिपुत्र जैसे विशाल राज्य का संचालन कर सके, तो भी मैंने जो भावुकता उस में देखी है, उस से मुझे अपना भविष्य उज्ज्वल दीखता है। प्रधान जी ! मेरे पीछे आप ही उस के संरक्षक होंगे। मुझे प्रसन्नता है कि वह आप को पितृसम मानता है। इसलिए मुझे विश्वास है कि आप के संचालन में वह इस उज्ज्वल वंश को उज्ज्वलतर करेगा।

राधागुप्त—इस की आप चिन्ता न करें महाराज ! इस दास के लोहू की प्रत्येक बिन्दु में जो आप का नमक रम रहा है

उस को अदा करने में राधा गुप्त जान को भी परवाह न करेगा। रही बात कुमार की, सो महाराज, जिस दक्षता से वह तक्षशिला का शासन कर रहा है, वह इस बात का प्रमाण है कि उस के आधिपत्य में पाटलिपुत्र उत्तरोत्तर वृद्धि करेगा।

बिन्दुसार—गुप्त जी! आप की बात ठीक है। मुझे क्या, पाटलिपुत्र के प्रत्येक व्यक्ति को कुमार पर गर्व है! मैं पाटलिपुत्र का भविष्य सामने की दीवार पर (अँगुली से निर्देश करता है) स्वर्णाक्षरों में लिखा देख रहा हूँ। ज्यों ज्यों मैं नेत्रों को उसे देखने के लिए विस्फारित करता हूँ, त्यों त्यों अक्षरों की चमक बढ़ती जा रही है। अतः मैं शान्ति की मौत मर सकूँगा। परन्तु केवल एक—एक ही···अच्छा, जाने दो इन बातों को, अब क्या हो सकता है! ईश्वरेच्छा गरीयसी!

राधागुप्त—चुप क्यों हो गये हो, महाराज! जो कहना था कह न दीजिये।

बिन्दुसार—मैं कहने को था मन्त्री जी! कि केवल एक ही इच्छा शेष है, वह यह कि यदि मैं कुमार को पाटलिपुत्र के सिंहासन पर आरूढ़ देख सकता, तो—

(बोलते-बोलते महाराज को जिह्वा बन्द हो जाती है, उन की आँखें पथरा जाती हैं।)

राधागुप्त—( व्याकुलता के साथ ) कोई !

( सहसा दौवारिक आता है )

दौवारिक—आज्ञा ?

राधागुप्त—शीघ्र जाकर महारानी जी को बुला लाओ। कहना, महाराज की दशा बहुत बिगड़ गई है।

( दौवारिक जाता है )

अब कोई आशा नहीं। जो अवस्था अब से कुछ पहले ऐसी अच्छी दीख रही थी, वह बुझने से पूर्व निस्नेह दीपक की अवस्था थी। ( महाराज को देखकर फिर नाड़ी को देख कर ) अन्त हो गया ! कैसे साधुस्वभाव और सौम्याकार थे।

( भागती-भागती महारानी और महल के दूसरे लोगों का प्रवेश )

महारानी—मन्त्री जी –

राधागुप्त—महारानी जी ! जो होना था, हो गया।

महारानी—क्या हो गया ? अवसान ! हा दैव !

( मूर्छित होकर गिर जाती है )

राधागुप्त—( पास खड़े हुए कुछ लोगों से ) इन्हें होश में लाने का उपाय करो। ( एक राजकर्मचारी से ) इसी समय एक दूत को भेज कर युवराज को बुला लाने का प्रबन्ध करो।

महारानी—( अर्धमूर्च्छित अवस्था में ) हाँ, कुमार को शीघ्र ही बुलाने का प्रबन्ध करो। उन के आने पर ही इन का अन्त्येष्टि संस्कार हो सकेगा।

कर्मचारी—जो आज्ञा। ( जाता है )

( पटाक्षेप )

## चौथा दृश्य

(स्थान पाटलिपुत्र, अशोक का प्रासाद, अशोक और मन्त्री बैठे बातें कर रहे हैं।)

अशोक—मन्त्री जी! मेरी ओर से आप निश्चिन्त रहिये।

मन्त्री—हम लोग निश्चिन्त कैसे रह सकते हैं राजन्। पहले महाराज के पूज्य पिता ने और उनके पश्चात् आपने जो कार्यभार मुझ पर रक्खा है, आखिर उस के प्रति मेरा भी तो कुछ उत्तरदायित्व है। महाराज! मुझे शोक इस बात का—

अशोक—मेरे विषय में आप लोगों को कोई शोक न होना चाहिए। मैं अशोक हूँ, मुझे किसी का शोक नहीं। इसलिये मेरे विषय में भी शोक किसी को न होना चाहिए। चाहे कोई सुखी हो या दुःखी हो, सम्पन्न हो या विपन्न हो, सौभाग्यशाली हो या दुर्भाग्यशाली हो, मुझे किसी के लिए न हर्ष है, न विषाद है।

मन्त्री—महाराज, समग्र राष्ट्र के कोने-कोने में इस बात की—

अशोक—इस बात की चर्चा हो रही है कि मैंने भाई का वध कर दिया है—यही न कहने वाले थे, मन्त्री जी? यदि

पर शत्रु से सन्धि नहीं करते। पूर्वजों के निष्कलंक यशोवितान पर कलंक का धब्बा न लगाओ मगधराज!

अशोक—आचार्य! मुझे अपने प्राणों का कोई मोह नहीं, पर इन निरपराध सैनिकों का वध किस आशा के लिए कराऊँ? मैं देख रहा हूँ कि हमारी सेना का संहार हो रहा है। घायलों की सेवा भी ठीक तरह नहीं हो रही। शवों के ढेर लगे पड़े हैं। उन की दुर्गन्ध से वायु दूषित हो रही है। सेना में भीषण संक्रामक रोग फैल रहा है। इधर रोगों की मार से और उधर शत्रु की मार से, दोनों ओर से सेना का नाश हो रहा है। यदि इस समय भी सन्धि न करूँ, तो क्या तब करूँ, जब सैनिकों के कंकाल और मांसाहारी गिद्ध ही शेष रह जायँ? उस समय सन्धि का क्या फल होगा?

सम्पुटाचार्य—अधीर मत हो बेटा! जब युद्ध का कारण मैं हूँ, तो इस में विजय भी मैं ही प्राप्त करा कर छोड़ूँगा। आप एक दो दिन तक और युद्ध जारी रखने का प्रबन्ध करें। भगवान् तथागत ने चाहा, तो विजय आप की होगी।

अशोक—जो आप की इच्छा।

( सम्पुटाचार्य का प्रस्थान )

अशोक—कुछ समझ में नहीं आता।

इधर है खाड़ी, उधर है सागर।

इधर को जाऊँ! उधर को जाऊँ!!

(प्रस्थान)

---

## छठा दृश्य

### स्थान-युद्ध-क्षेत्र

( कलिङ्ग देश के राजा मृगेन्द्र का शिविर, मृगेन्द्र एक ऊँचे आसन पर बैठा है, पास ही सेनापति और कुछ नायक बैठे हैं । )

मृगेन्द्र—सेनापति, युद्ध का क्या हाल है ?

सेनापति—महाराज, अब तक तो अच्छा रहा, लेकिन........

मृगेन्द्र—लेकिन क्या ?

सेनापति—( अनमना सा होकर ) लेकिन अब लक्षण कुछ अच्छे नहीं दिखाई देते ।

मृगेन्द्र—कारण !

सेनापति—हमारी सेना का उत्साह कुछ मंद सा होता जाता है । मालूम होता है—शत्रु के भेदियों का इस में कुछ हाथ है ।

मृगेन्द्र—ऐसी परिस्थिति में अब आप क्या करने की अनुमति देते हैं ? इतना कुछ करके भी यदि हम लोग विजित हुए, तो बड़ी लज्जा की बात होगी ।

सेनापति—महाराज, सेना का प्रत्येक सैनिक अपनी जान पर



खेल रहा है। हम अपने मुँह कलंकित कर पाँव पीछे न हटायेंगे।

मृगेन्द्र—बड़ी लज्जा की बात है, सेनापति! मारा हुआ मैदान हाथ से निकला जा रहा है। युवराज कहाँ हैं?

सेनापति—वे अपनी सेना लेकर उत्तर की ओर गये हैं और मैं अपना दल लेकर दक्षिण को जाऊँगा, दोनों ओर से एक ही दम धावा बोल दिया जायगा। अब की आशा इसी अन्तिम चाल पर आश्रित है।

( सहसा एक सिपाही का प्रवेश )

सिपाही—महाराज! युवराज पर शत्रुओं ने धावा बोल दिया है।

सेनापति—तब तो युवराज की जान ख़तरे में होगी। मालूम होता है—हमारे धावे की ख़बर शत्रु को पहले ही मिल गई है। नहीं तो वे इतनी जल्दी कभी न करते। महाराज! मालूम होता है—उन के भेदिये हमारी गुप्त गोष्ठी की बातों को भी जानते रहते हैं। महाराज, अब तो सर्वनाश ही उपस्थित है।

( घबराये हुए एक और सैनिक का प्रवेश )

सैनिक ( घबराया हुआ ) म···हा···रा···ज! शत्रुओं ने कुमार को पकड़ लिया है, उस की सेना भी भाग गई है। अब

शत्रु का सेनापति जयगुप्त दलबल सहित इधर ही आ रहा है। अपनी रक्षा का कोई उपाय कीजिये।

मृगेन्द्र—सर्वनाश! सेनापति, अब क्या करना चाहिये?

सेनापति—महाराज! अब भाग जाने के सिवा और चारा ही क्या है? शीघ्रता कीजिये, कहीं यह न हो.........

( नेपथ्य में - पकड़ो, पकड़ो भागने न पावें )

महाराज़, भागिये, मैं भी आता हूँ।

( मृगेन्द्र भाग जाता है )

सेनापति—सम्पुटाचार्य से जो प्रण किया था, वह तो पूरा हो गया। अब जाकर उस से......

( पीछे से बाण आकर सेनापति की गरदन में लगता है। वह छटपटा कर मर जाता है। )

मृगेन्द्र—(आकर) "जाकर उस से इनाम लेना चाहिए" यही न कहने वाले थे? 'यह लो इनाम। धोखेबाज़! कायर! नमकहराम! अपने किये का फल भोग। भागने से पूर्व ही मुझे तेरी इन करतूतों का पता लग गया था।

( प्रस्थान )

—:०:—

## सातवाँ दृश्य

स्थान—पाटलिपुत्र

( अशोक का दरबार, अशोक सिंहासन पर बैठे हैं, साथ ही एक चौकी पर सम्पुटाचार्य बैठा है। मंत्री और दूसरे राजदरबारी अपने अपने स्थान पर बैठे हैं। )

संम्पुटाचार्य—महाराज ! मैं समस्त प्रजा और बौद्ध सम्प्रदाय की ओर से आप को बधाई देता हूँ। तथागत भगवान् की अपार कृपा से आप के द्वारा भगवान् के धर्म का प्रचार हो रहा है। कलिङ्ग देश की विजय से महाराज अशोक का यश नभोमंडल पर सूर्य की तरह देदीप्यमान हो रहा है। कलिङ्ग के महाराज मृगेन्द्र का उन्नत मस्तक सिवा आप के और किस के सामने झुक सकता था ? उस का यश धूलि में मिल चुका है। इन्द्रपुर की ईंट से ईंट बज चुकी है। शत्रुओं की विधवाओं और अनाथ बालकों के आर्तनाद से आकाश गूँज रहा है। आज वहाँ किसी मनुष्य का चिन्हमात्र भी नहीं दिखाई देता। हाँ, दिखाई देते हैं केवल गिद्ध, शृगाल और भेड़िये, जो **सैनिकों की**

लाशों पर टूट रहे हैं। मैं सब की ओर से आज आप को 'सम्राट्' पद प्रदान करता हूँ। आज से आप 'सम्राट् अशोक' कहलायेंगे।

अशोक—( खेद प्रकट करते हुए ) आचार्य! मैं भी यही विचार रहा था कि 'इन्द्रपुर की ईंट से ईंट बज गई है। शत्रुओं की—और हमारे लोगों की भी, यह तो आप कहना भूल ही गये थे—विधवाओं और अनाथ बच्चों के आर्तनाद से आकाश गूँज रहा है। मृतक सैनिकों की लाशों पर गिद्ध, शृगाल और भेड़िये टूट पड़े हैं'। कितना हृदयाह्लादक दृश्य है आचार्य! मुझे तो यह दृश्य और भी मनोहर मालूम पड़ता है आचार्य! जब इस का वर्णन आप के—अहिंसाप्रिय बौद्ध धर्म के एक नेता के मुख से सुन रहा हूँ और इस वीभत्स दृश्य को लाने वाला बौद्ध धर्म का मुख्य प्रचारक सम्राट्—हाँ, हाँ, सम्राट् अभी तो आपने मुझे यह पद प्रदान किया है, सम्राट् अशोक है। ( व्यंग्य से ) बौद्ध धर्म का खूब प्रचार हुआ है। यदि मुझे यह परिणाम मालूम होता, तो कभी इस घृणित काम में हाथ न डालता। आचार्य! इस समय भी उन विधवाओं और अनाथ बच्चों के आर्तनाद मेरे कानों में पड़ रहे हैं। मुझे

स्पष्ट सुनाई दे रहा है कि वे अशोक को, निष्ठुर अशोक को, बौद्ध धर्म के दंभी उपासक अशोक को, धिक्कार रहे हैं। मैंने जो कुछ किया है, उस के लिये पश्चात्ताप की आग में जल रहा हूँ। तलवार से न कभी धर्म का प्रचार हुआ है और न होगा। इसलिए मैं आगे को इन युद्धों को बन्द करता हूँ। मेरे लिए यह अन्तिम युद्ध होगा। तथागत भगवान् के धर्म का प्रचार प्रेम, दया और अहिंसा से होगा।

( द्वारपाल का प्रवेश )

द्वारपाल—सम्राट्! सेनापति जयगुप्त एक बंदी के साथ द्वार पर खड़े हैं, प्रवेश की अनुज्ञा चाहते हैं।

अशोक—उन्हें सादर ले आओ।

( जयगुप्त एक बन्दी और कुछ सैनिकों के साथ आता है। )

जयगुप्त—( प्रणाम कर ) सम्राट्! कलिंग का युवराज आप के सामने बन्दी होकर खड़ा है, इस के लिए क्या आज्ञा है?

अशोक—जयगुप्त जी! यह कुमार किस तरह बन्दी हुआ?

जयगुप्त—सम्राट्! जब कलिंग की सेना के पाँव उखड़ चुके और राजा मृगेन्द्र और उस की सेना भाग खड़ी हुई, तो राजकुमार जितेन्द्र ने हम लोगों से ऐसा युद्ध किया

कि इन के पराक्रम को देखकर कलिङ्ग की भागती हुई सेना के उखड़े हुए पाँव फिर जम गये। उस समय इन की वीरता देख कर हम लोग भी दंग थे।

अशोक—आप ने बिल्कुल ठीक बताया है सेनापति ! मैंने अपनी आँखों से कुमार की शूरता देखी है। आखिर वीर मृगेन्द्र जी के पुत्र हैं न ?

( जितेन्द्र की ओर ) कुमार ! मैं तुम्हारी बहादुरी से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। तुम्हारे जैसे वीरों से कारावास की नहीं, सिंहासन की शोभा होगी। जितेन्द्र ! मैं तुम्हें बन्दी नहीं देखना चाहता, तुम इसी दम मुक्त हो सकते हो। बोलो क्या चाहते हो ?

जितेन्द्र—महाराज ! मैं यही चाहता हूँ कि मुझ से वही व्यवहार हो, जो एक युद्ध के बन्दी से होना चाहिए। मैं आप से मुक्ति की भीख नहीं माँगूँगा। आप विजयी हैं, मैं विजित हूँ। आप उच्च राज्यासन पर विराजमान हैं, और मैं नीचे बन्दी के रूप में खड़ा हूँ। इसलिए मैं यह चाहता हूँ कि आप भी मुझे विजित ही समझें ( सम्पुटाचार्य को देखकर ) यही हैं न आप के सम्पुटाचार्य ! बुद्ध धर्म के प्रचारक !

महाराज ! मैं आप का बन्दी हूँ। मुझे आप की अवज्ञा

करने का कोई अधिकार नहीं ; पर इतना अवश्य कहता हूँ कि ये बौद्धाचार्य यदि कूट-नीति का प्रयोग न करते, हमारे सेनापति को प्रलोभन देकर अपने पक्ष में न कर लेते, तो दृश्य बिल्कुल बदला हुआ होता। खैर, अब क्या ! ये सब बातें अब व्यर्थ हैं।

अशोक—कुमार ! मैं अपनी विजय नहीं मानता, अपनी हार मानता हूँ। तुम मानो या न मानो, पर मैं तुम्हारे जैसे शार्दूल-शावक को पिंजड़े में नहीं रखना चाहता। ऐसे शार्दूल के लिए अनन्त वन का अखण्ड राज्य चाहिए। जितेन्द्र ! अब से तुम मेरे बन्दी नहीं हो।

( सेनापति को ) जयगुप्त ! इन के बन्धन खुलवा दो।

सेनापति—जो आज्ञा ( कुमार के बन्धनों को खुलवा देता है। )

अशोक—कुमार ! जो बन्धन तलवार के जोर से बाँधे गये थे, उन्हें आज प्रेम से खुलवा दिया गया है। आज से तलवार का राज्य नहीं, प्रेम का राज्य है।

जितेन्द्र—सम्राट् ! आप के उपकारों के नीचे मैं दब गया हूँ। मैं इतना पराजय से लज्जित नहीं हुआ, जितना आप के उपकारों से हुआ हूँ।

अशोक—( आसन से उठकर और जितेन्द्र को गले से लगा कर ) जितेन्द्र ! आज से तुम मेरे भाई हो। मैं भ्रातृस्नेह से वञ्चित था, उसे मैं तुम से ही पाऊँगा। कलिंग के राज्य के

तुम ही अधिकारी थे। वह अधिकार मैं फिर तुम्हें ही सौंपता हूँ। ( सेनापति से ) जयगुप्त ! कुमार को बहुत आदर के साथ विदा करो।

सेनापति—जो आज्ञा। ( कुमार से ) चलिये कुमार !

कुमार—चलता हूँ भाई सेनापति ! ( अशोक से ) अशोक ! भाई अशोक·········

( आँसुओं से गला रुक जाता है, दोनों गले से लगते हैं। एक दूसरे की ओर आँसू-भरे नयनों से देखते-देखते अलग होते हैं, कुमार जाता है। )

अशोक—( दरबारियों से ) आप लोगों ने मुझे सम्राट् बनाया है। मैं आप के दिये आदर को स्वीकार करता हूँ। मैं भी अपने लिए स्वयं एक उपाधि प्रस्तुत करता हूँ। आशा है आप लोग आज से मुझे 'प्रियदर्शी' नाम से पुकारेंगे।

सब—( एक स्वर से ) प्रियदर्शी सम्राट् अशोक की जय !

( पटाक्षेप )

———

# दुर्लभ-बन्धु

# उत्थानिका

अंग्रेज़ी भाषा के जगत्प्रसिद्ध नाटककार शेक्सपियर का एक नाटक है 'मरचेंट आव् वेनिस'। उस का कथानक यों है—वेनिस में एंटोनियो और बस्सैनियो दो अभिन्नहृदय मित्र थे। एंटोनियो बड़ा धनाढ्य था, पर आडम्बरप्रिय बिल्कुल न था। बस्सैनियो धनाढ्य न था, पर छैला अधिक था। एंटोनियो बस्सैनियो की रुपये-पैसे से सदा सहायता करता रहता था, उसे कभी तंगी का अनुभव नहीं होने देता था। बस्सैनियो का विवाह पोरशिया नाम की एक सुन्दर धनवती युवती से होने को था, पर उस के पास विवाह पर ख़र्च करने को धन न था। लाचार हो उसने अपने मित्र एंटोनियो की शरण ली, किन्तु एंटोनियो की आर्थिक दशा उस समय कुछ अच्छी न थी, उस ने सारी पूँजी से माल ख़रीद कर और उसे जहाज़ों में भर कर विदेशों में विक्रयार्थ भेजा हुआ था। तो भी वह अपने मित्र को हताश न देख सका। उस ने शाईलाक-

नामक एक धनाढ्य यहूदी से कुछ रुपया सूद पर ले कर बस्सैनियो की माँग को पूर्ण करने का निश्चय किया । उस समय यहूदियों की धनलोलुपता अति प्रसिद्ध थी। शाईलाक धन-लोलुपता आदि के कारण एंटोनियो से सदा इसलिए नाराज़ रहता था कि एंटोनियो लोगों को अपना रुपया कम सूद पर या सूद के बिना दे दिया करता था, साथ ही शाईलाक को, उसकी वित्तलोलुपता पर फटकारता रहता था। शाईलाक ने अपने वैर की प्रतिक्रिया का यही उत्तम अवसर समझा और एंटोनियो को इस शर्त पर यथेष्ट धन दिया, कि यदि नियत अवधि की समाप्ति से पूर्व वह रुपया चुका न सका, तो उसे एंटोनियो के शरीर के किसी भाग से एक पौंड माँस काट लेने का पूर्ण अधिकार होगा।

एंटोनियो ने इस आशा से कि नियत तिथि से पूर्व ही देशान्तरों में विक्रयार्थ भेजी हुई वस्तुओं के विक्रय से पर्याप्त धन प्राप्त हो जायगा, बस्सैनियो के रोकने पर भी प्रमाणपत्र पर हस्ताक्षर कर दिए। दुर्भाग्यवश एंटोनियो के माल असबाव से लदे सब के सब जहाज़ समुद्र में डूब गए। उधर रुपया चुकाने की अवधि भी समाप्त हो गई। मामला कोर्ट में पहुँचा।

इसी अन्तर में बस्सैनियो की दशा विवाहानन्तर अच्छी हो गई थी, वह शाईलाक को दुगना रुपया देने को प्रस्तुत था, पर

वह नहीं माना। उसे रुपया न चाहिए था, उसे तो एंटोनियो के प्राण चाहिएँ थे।

इस मामले का पता वस्सैनियो की नवविवाहिता वधू पोरशिया को लगा। वह एक बैरिस्टर के वेष में एंटोनियो का पक्ष लेकर कोर्ट में उपस्थित हुई और अपनी चातुरी से एंटोनियो को मुक्त करा लिया। जो वक्तृता उस ने उस अदालत में की थी, वह अंग्रेजी- साहित्य में अत्युच्च स्थान रखती है और शेक्सपियर की सर्वोत्कृष्ट कृतियों में से एक मानी जाती है। उस 'मरचेंट आव् वैनिस' का अनुवाद भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के परम मित्र श्री वालेश्वरप्रसाद ने किया था, और उसका नाम उन्होंने 'दुर्लभ बन्धु' या 'वंशनगर का व्यापारी' रखा था। भारतेन्दु जी ने उस का आद्योपान्त संशोधन किया है, अतः यद्यपि यह हरिश्चन्द्र की निजी कृति नहीं, तो भी इस पर उन की पूरी छाप लगी हुई है। इसलिए इसे भारतेन्दु की ही कृति कहने में कोई अत्युक्ति नहीं।

इस में अंग्रेजी नाटक के पात्रों और स्थानों के असली नामों को बदल कर उन्हें निम्नलिखित भारतीय नाम दिये हुए हैं।

वेनिस—वंशनगर। वस्सैनियो—वसन्त।

एंटोनियो—अनन्त। शाईलाक—शैलाक्ष।

पोरशिया—पुरश्री

# पात्र

अनन्त········वंशनगर का एक धनाढ्य व्यापारी
वसन्त········अनन्त का मित्र
शैलाक्ष·······एक धनलोलुप यहूदी वणिक्
पुरश्री·········वसन्त की स्त्री
नरश्री·········पुरश्री की सखी
गिरीश }
सलारन } अनन्त और वसन्त के कर्मचारी
सलोनो }
मंडलेश्वर·····वंशनगर का न्यायाधिपति

## पहला दृश्य

स्थान—वंशनगर की एक सड़क

( वसन्त और अनन्त बातें करते-करते आते हैं )

वसन्त—भाई अनन्त ! तुम अच्छी तरह जानते हो कि मैंने अपनी जायदाद किस तरह गँवा दी ? समझ कर व्यय न करके मैं सर्वदा बड़ी चाल चला, और यही चाल मेरे नाश का कारण हुई। तो भी मुझे अपनी अवस्था के घट जाने की कुछ भी सोच नहीं है। सोच है तो केवल इस बात की कि जो बहुत सा ऋण हो गया है, उसे किसी तरह चुका दूँ। भाई अनन्त ! तुम्हारा मैं सब प्रकार से ऋणी हूँ—रुपये का कहो, दया का कहो। इसलिये ऋण चुकाने का मैं जो-जो उपाय सोचता हूँ

वह तुम से सब ठीक-ठीक वर्णन करके अपने चित्त के बोझ को हलका करूँगा।

अनन्त—प्यारे वसन्त ! परमेश्वर के वास्ते मुझ से सब वृत्तान्त स्पष्ट वर्णन करो। यदि वह उपाय धर्म का है, जैसा कि तुम सदा बरतते आये हो, तो निश्चय रक्खो कि मेरा रुपया, मेरा शरीर, सब कुछ तुम्हारे लिये समर्पण है।

वसन्त—बचपन में जब मैं पाठशाला में पढ़ता था तब, यदि मेरा कोई तीर खो जाता था, तो उस के ढूँढ़ने को मैं वैसा ही दूसरा तीर उस ओर छोड़ता था, और ध्यान रखता था कि यह तीर कहाँ गिरता है। इसी भाँति दुहरी जोखों उठाने से प्राय: दोनों मिल जाते थे। इस लड़कपन की बात के छेड़ने से मेरा आशय यह है कि अब मैं जो उपाय किया चाहता हूँ, वह भी इसी लड़कपन के खेल की भाँति है। मैं तुम्हारा बड़ा ऋणी हूँ। जो कुछ मैंने तुम से लिया, वह सब एक हठी लड़के की भाँति गँवा दिया, परन्तु जहाँ तुम ने पहले एक तीर छोड़ा है, उसी ओर यदि एक तीर और फेंको, तो मैं तुम्हें निश्चय दिलाता हूँ कि अब की बार मैं उस के लक्ष्य की ओर अच्छी तरह दृष्टि रख कर जैसे होगा, वैसे दोनों

तीर खोज लाऊँगा। यदि संयोग से पहला न मिला, तो दूसरा तो अवश्य ही फेर लाऊँगा और पहले के लिये धन्यवाद के साथ तुम्हारा सदा ऋणी हूँगा।

अनन्त—भाई, तुम तो मुझे अच्छी तरह जानते हो। फिर मेरा जी टटोलने के लिए फेर के साथ बात करके व्यर्थ क्यों समय नष्ट करते हो? मुझे इसका दुःख है कि तुम ने इस बात में संदेह किया कि मैं तुम्हारे लिए प्राण तक दे सकता हूँ। यदि तुम मेरी सर्वस्व हानि किये होते, तब भी मुझे इतना दुःख न होता, जो इस बात से हुआ। व्यर्थ बात बढ़ाने से क्या लाभ! केवल इतना कहो कि मुझे तुम्हारे लिये क्या करना होगा। मैं उस के लिए प्रस्तुत हूँ। शीघ्र बतलाओ।

वसन्त—बिल्वमठ में एक क्वाँरी स्त्री रहती है, जो अपने माँ-बाप के मर जाने से एक बड़ी रियासत की स्वामिनी हुई है। उस का नाम पुरश्री है, वह सचमुच पुरश्री है, पुरश्री क्या सारे संसार की श्री है। रूप में श्री और गुणों में सरस्वती है। संसार में कोई स्थान नहीं, जहाँ उस की स्तुति की सुगन्ध न फैली हो। चारों ओर से बड़े-बड़े राजकुमार और धनिक उस के विवाह की आशा में आते हैं। भाई वसन्त यदि मुझे इतना रुपया मिलता

कि वहाँ जाकर इन लोगों के समक्ष मैं विवाह की प्रार्थना कर सकता, तो मेरा जी कहता है कि मैं अपने मनोरथ में अवश्य विजयी होता।

अनन्त—भाई, तुम अच्छी तरह जानते हो कि मेरी सब लक्ष्मी समुद्र में है, इस समय न मेरे पास मुद्रा है और न माल, जिसे बेच कर रुपया मिल सके। इस से जाओ, देखो तो मेरी साख वंशनगर में क्या कर सकती है। तुम्हें पुरश्री के पास विल्वमठ जाने के लिए जो रुपया चाहिए, उस के प्रबन्ध में मैं ऊँचा नीचा सब-काम करने को प्रस्तुत हूँ। देखो और अभी जाकर खोज करो कि रुपया कहाँ मिल सकता है। मैं भी जाता हूँ। मेरे नाम या ज़मानत से जिस प्रकार रुपया मिले, मुझे किसी बात में सोच विचार नहीं है।

( दोनो जाते हैं )

## दूसरा दृश्य

स्थान—साधारण जनस्थान

शैलाच—छः सहस्र मुद्रा !—हूँ !

वसन्त—हाँ साहिब, तीन महीने के वादे पर।

शैलाच—तीन महीने का वादा ?—हूँ !

वसन्त—और इस के लिए, जैसा कि मैं आप से कह चुका हूँ, अनन्त ज़ामिन होंगे।

शैलाच—अनन्त ज़ामिन होंगे ?—हूँ !

वसन्त—तो आप मुझे देंगे ? आप से मेरा काम निकलेगा ? मैं आप के उत्तर की राह देखता हूँ।

शैलाच—छः सहस्र मुद्रा, तीन महीने का वादा और अनन्त की ज़मानत।

वसन्त—जी हाँ। आप क्या उत्तर देते हैं ?

शैलाच—अनन्त है तो अच्छा मनुष्य।

वसन्त—क्यों ! क्या आप ने उस के विरुद्ध कुछ सुना है ?

शैलाच—नहीं नहीं, मेरा अभिप्राय उन के अच्छे होने से यह

है कि उन की ज़मानत ही बहुत है—यद्यपि आजकल उन की दशा हीन है, क्योंकि उन का एक जहाज़ त्रिपुल को गया है और दूसरा हिन्दुस्तान को। सुना है कि बाज़ार में भी कुछ उन का व्यवहार है। उन का एक तीसरा जहाज़ मौक्तिक में तथा चौथा अङ्गदेश में है। इसी भाँति इधर-उधर और बन्दरों में भी उन की जोखों है, परन्तु जहाज़ फिर भी काठ ही है और मल्लाह भी मनुष्य ही हैं, चूहे थल में भी हैं और जल में भी, वैसे ही चोर पृथ्वी पर भी होते हैं और पानी में भी, अर्थात् डाकुओं का भय सभी स्थलों में है और फिर आँधी तूफ़ान और चट्टान का भय अलग लगा हुआ है। पर फिर भी, यद्यपि छः सहस्र मुद्रा—बहुत हैं—मैं समझता हूँ कि मैं उन की ज़मानत स्वीकार कर लूँगा।

वसन्त—सन्तोष रखिए, उन की ज़मानत निस्सन्देह ग्रहण करने योग्य है।

शैलाक्ष—मैं अपना मन भर लूँगा और किस तरह मेरा सन्तोष होगा, इस पर विचार करूँगा—मैं अनन्त से इस की बातचीत कर सकता हूँ?

वसन्त—यदि दोपहर को कृपा करके हम लोगों के साथ खाना खाइये, तो वहाँ सब बात निश्चय हो जाय।

( अनन्त आता है )

वसन्त—अनन्त ! आप आ पहुँचे ?

शैलाक्ष—मैं अभी अपने जी में हिसाब कर रहा था कि मेरे पास कितना रुपया तैयार है और जहाँ तक मैंने सोचा, इस समय मेरे पास छः सहस्र रुपया न मिलेगा, पर इस से क्या ! मैं त्र्यम्बक से, जो मेरी जाति का एक धनिक पुरुष है, शेष मुद्रा ले लूँगा। परन्तु तनिक ठहरिये। आप कितने महीने की मिती चाहते हैं ? ( अनन्त से ) महाशय ! प्रणाम, आप की बड़ी आयु है—अभी हम लोग आप ही का वर्णन कर रहे थे।

अनन्त—शैलाक्ष ! यद्यपि मैं व्याज पर रुपये का कभी लेन देन नहीं करता, तो भी अपने मित्र की अत्यन्त आवश्यकता को समझ कर अपने नियम के तोड़ने पर प्रस्तुत हूँ। वसन्त, तुम इन से कह चुके हो कि कितने रुपये की आवश्यकता है ?

शैलाक्ष—हाँ-हाँ, छः सहस्र मुद्रा।

अनन्त—और तीन महीने के लिए !

शैलाक्ष—हाँ, मैं भूल गया था—तीन महीने की मिती पर—आप कह चुके हैं—तो किन प्रतिज्ञाओं पर, ज़रा ठहरिये—किन्तु सुनिये तो सही, अभी आपने कहा था कि हम सूद पर लेन-देन नहीं करते।

अनन्त—मैं इस का व्यापार नहीं करता।

शैलाच—छः हज़ार रुपया—यह तो एक पूरी जमा है—और महीने भी तीन!—तो हमें भाव सोचने दीजिये।

अनन्त—स्पष्ट कहो रुपया देना है कि नहीं?

शैलाच—अनन्त महाशय! आपने बाज़ार में सहस्रों ही वार मेरे धन और लोभ के लिये मेरी दुर्दशा की होगी, पर मैंने क्षमा करने के सिवाय कभी कुछ उत्तर न दिया, क्योंकि क्षमा हमारी जाति का चिन्ह है। आप मुझे नास्तिक, गलकट्टा और कुत्ता कह कर मेरे जातीय परिधान पर थूकते थे और यह सब केवल इस अपराध के लिए कि मैं अपनी जमा को जिस भाँति चाहता हूँ, काम में लाता हूँ। अस्तु, तो अब जान पड़ता है कि आप मेरी सहायता के अपेक्षी हैं, आप मेरे पास आये हैं और कहते हैं कि शैलाच, हमें रुपया ऋण दो—एँ! आप ऐसा कहते हैं! आप मेरी दाढ़ी को अपना उगालदान समझते थे और मुझे ठीक इस तरह ठोकर मारते थे, जैसे कोई अपनी देहली पर अनजान कुत्ते को मारता है। आप ही अब रुपये की प्रार्थना लेकर आये हैं—इस का मैं आप को क्या उत्तर दूँ? क्या मैं आप से यह पूछूँ कि

साहव, क्या कहीं कुत्ते के पास भी रुपया सुना है ? कभी सम्भव है कि अपवित्र कुत्ता भी छः सहस्र मुद्रा ऋण दे सके ? या नम्रता से सिर झुका कर भृत्य की भाति काँपता हुआ धीमे स्वर से निवेदन करूँ, 'महाराज ने कृपापूर्वक मुझ पर गये बुध को थूका था और अमुक दिन ठोकर मारी थी और अमुक दिन कुत्ते की उपाधि दी थी, अतः इन कृपाओं के वदले में इतना रुपया देने को प्रस्तुत हूँ' ।

अनन्त—मैं तुझे फिर भी ऐसा ही कहूँगा और तुझ पर थूकूँगा और लात मारूँगा । यदि तुझे रुपया उधार देना है, तो मुझे अपना मित्र समझ कर मत दे, ( क्योंकि मित्रता रुपये से, जो एक वाँझ की भाँति है, वच्चे कव उत्पन्न कर सकती है ) वरंच अपना शत्रु समझ कर, जिस से मेरे भग्न प्रतिज्ञ होने पर तुझे सब प्रकार से प्रतिज्ञानुसार दण्ड ग्रहण करने का अवसर मिले ।

शैलाक्ष—वाह ! वाह ! देखिये तो आप कैसा आपे से वाहर हो गये ! मैं आप से मित्रता का नाता रखना चाहता हूँ और पिछले वैरों को भुला कर आप के स्नेह की आशा रखता हूँ । मैं सूद में आप को रुपया उधार देने को प्रस्तुत हूँ और सूद एक पैसा भी नहीं चाहता, तिस पर भी

आप मेरी बात नहीं सुनते। क्या यह मेरा मित्रता का बर्ताव नहीं है?

बसन्त—यह आप की दया है।

शैलाच - मैं इस कृपा को दिखलाऊँगा। (अनन्त से) मेरे साथ किसी व्यवस्थापक के यहाँ चलिए और उस के सामने तमस्सुक पर अपनी मुहर कर दीजिए और हँसी की रीति पर यह शर्त लिख दीजिए कि यदि अमुक दिन और अमुक स्थान पर आप मेरा रुपया, जिस का तमस्सुक में वर्णन है, न चुका दें, तो मुझे अधिकार होगा कि उस के बदले में आप के शरीर के जिस अंश से चाहूँ, आध सेर माँस काट लूँ।

अनन्त—मैं चित्त से प्रसन्न हूँ और इन शर्तों पर मुहर कर दूंगा और यह भी कहूँगा कि इस में बड़ी मनुष्यता है।

बसन्त—तुम मेरे लिए ऐसे तमस्सुक पर हस्ताक्षर न करने पाओगे, इस से तो मैं अपनी दरिद्रावस्था में रहना ही श्रेय समझूँगा।

अनन्त—क्यों? डरो मत, प्रतिज्ञा भंग होने की घड़ी कदापि न आयेगी। दो महीने के भीतर, अर्थात् तमस्सुक की मिती पूजने के एक महीना पहले, मुझे आशा है कि इस का तिगुना धन मेरे पास पहुँच जायगा।

शैलाच—हे ईश्वर ! ये आर्य भी कैसे मनुष्य होते हैं ! जैसा इन का चित्त कठोर होता है, वैसा ही औरों का भी समझ कर संदेह करते हैं ! भला यह बतलाइये कि यदि इन्होंने प्रतिज्ञा भंग की, तो मुझे इस शर्त के पूरा कराने से क्या लाभ होगा ? मनुष्य के शरीर का आध सेर माँस किस रोग की औषधि है और वह किस गिनती में है ? क्या वह उतना भी काम में आ सकता है, जैसा भेड़-बकरी का माँस ?—सुनिये, केवल इन से मैत्री करने के लिये मैं इन के साथ ऐसी कृपा करता हूँ, यदि वह इसे समझें, तो अच्छी बात है, नहीं तो प्रणाम, और मेरी प्रीति के बदले मेरे साथ बुराई न कीजियेगा।

अनन्त—हाँ, शैलाच ! मैं इस तमस्सुक पर मुहर कर दूंगा।

शैलाच—तो अभी व्यवस्थापक के घर पर जाइए और इस तरह हँसी के दस्तावेज़ के लिखने को कहिए, मैं भी शीघ्र जाकर थैली में छः हज़ार रुपये लिये हुए वहीं पहुँचता हूँ और अपना घर भी देखता आऊँगा, जिसे एक बहुत बड़े पापी—अविश्वासी भृत्य को सौंप आया हूँ—मैं सब काम करके बात की बात में आपसे मिलता हूँ। ( जाता है )

अनन्त—अच्छा, शीघ्र जाओ। यह तो ऐसा कृपालु होता जाता है कि आर्य ही बन जायगा।

वसन्त—मैं चिकनी-चुपड़ी बातें और दुष्ट अन्तःकरण पसन्द नहीं करता।

अनन्त—आओ, इस में कोई धोखा नहीं हो सकता, क्योंकि मेरे जहाज़ अवश्य ही मिती पूजने के एक महीना पहले पहुँच जायेंगे।

( जाते हैं )

## तीसरा दृश्य

स्थान—वंशनगर, राजद्वार

( मंडलेश्वर, प्रधान लोग, अनन्त, वसन्त, गिरीश, सलारन, सलोनो और दूसरे लोग आते हैं )

मंडलेश्वर—अनन्त आ गये हैं ?

अनन्त—धर्म्मावतार ! उपस्थित हूँ।

मंडलेश्वर—मुझे तुम पर अत्यन्त शोक होता है, क्योंकि तुम ऐसे दुष्ट, कठोर तथा वज्रहृदय वादी (मुदई) के उत्तर देने के लिये बुलाये गये हो, जिसे दया नाम को भी नहीं छू गयी है।

अनन्त—मैं सुन चुका हूँ कि महाराज ने उस के क्रूर वर्ताव के नम्र करने के प्रयत्न में कितना श्रम किया, परन्तु उस पर किसी बात की सिद्धि नहीं होती और न मैं किसी उचित रीति से उस की शत्रुता की परिधि के बाहर जा सकता हूँ। अतः मैं अपना सन्तोप उस के अनर्थ के प्रति प्रकट करता हूँ और उस का अत्याचार सहने को सब

प्रकार से प्रस्तुत हूँ और कदापि मुख से आह न निकालूँगा ।

मंडलेश्वर—कोई जाये और उस शैलाक्ष को न्यायालय में उपस्थित करे ।

सलोनो—महाराज ! वह पहले ही से द्वार पर खड़ा है । देखिए वह आ पहुँचा ।

( शैलाक्ष आता है )

मंडलेश्वर—सब लोग स्थान दो, जिस से वह हमारे सम्मुख आकर खड़ा हो । शैलाक्ष ! सारा संसार सोचता है और मैं भी ऐसा ही समझता हूँ कि यह हठ तुम उसी क्षण तक स्थिर रक्खोगे, जब तक कि उस के पूरे होने का समय न आ जायगा और तब लोगों का यह विचार है कि तुम अब प्रकट में जितनी कठोरता दिखला रहे हो, उस की अपेक्षा कहीं अधिक खेद और दया प्रकाश करोगे और जहाँ कि अभी तुम उस से प्रतिज्ञाभंग होने का दण्ड लेने पर प्रस्तुत हो, ( जो इस दीन व्यापारी के शरीर का आध सेर माँस है ) वहाँ उस समय तुम केवल इस दण्ड ही के छोड़ने पर अभिमत न हो जाओगे, वरंच मनुष्य धर्म और शील का अनुकरण करके मूल ऋण में से भी आधा छोड़ दोगे । यदि उस की हानियों की ओर जो इधर

थोड़ी देर में उस के ऊपर फट पड़ी हैं, ध्यान दिया जाय, तो वे ही इतने बड़े व्यापारी की कमर तोड़ देने के लिए बहुत हैं। कोई मनुष्य कैसा ही कठोरचित्त क्यों न हो और पत्थर का हृदय क्यों न रखता हो, यहाँ तक कि कोल और भिल्ल भी, जिन्होंने कभी शील का नाम नहीं सुना, उस की दशा को देखकर अत्यन्त ही शोक करेंगे। इसलिए हे शैलाक्ष ! हम लोग आशा करते हैं कि तुम इस का उत्तर नम्रतापूर्वक दोगे।

शैलाच—मैं महाराज को अपने उद्देश्य से सूचित कर चुका हूँ और मैंने अपने पवित्र दिन रविवार को शपथ खाई है कि जो कुछ मेरा दस्तावेज़ के अनुसार चाहिए, वह प्रतिज्ञा भङ्ग होने के दण्ड सहित लूँगा। यदि महाराज उस को दिलवाना अंगीकार न करें, तो इस का अपवाद महाराज के न्याय और महाराज के नगर की स्वतन्त्रता के सिर पर। महाराज मुझ से यही न पूछते हैं कि मैं इतना मृतमाँस छः हज़ार रुपयों के बदले लेकर क्या करूँगा ? इस का उत्तर मैं यही देता हूँ कि मेरे मन की प्रसन्नता। बस, अब महाराज को उत्तर मिला ? यदि मेरे घर में किसी घूँस ने बहुत सिर उठा रक्खा हो और मैं उस के नष्ट करने के लिये बीस सहस्र मुद्रा व्यय कर डालूँ, तो

मुझे कौन रोक सकता है ? अब भी महाराज ने उत्तर
पाया या नहीं ? कितने लोगों को माँस से घृणा होती
है ? कितने ऐसे हैं, जो बिल्ली को देख कर आपे से बाहर
हो जाते हैं ? अब आप मुझ से उत्तर लीजिए कि जैसे
इन बातों का कोई मूल कारण नहीं कहा जा सकता
कि वह माँस से क्यों दूर भागते हैं और उस बिल्ली-
सदृश दीन और सुखदायक जन्तु से क्यों इतना घबराते
हैं, वैसे ही मैं भी इस का कोई कारण नहीं कह सकता
और न कहूँगा। सिवाय इस के कि मेरे और उस के बीच
एक पुरानी शत्रुता चली आती है और मुझे उस के स्वरूप
से घृणा है, जिस के कारण मैं एक ऐसे विषय का
जिस में मेरा इतना घाटा है, उद्योग करता हूँ। कहिए अ:
तो उत्तर मिला ?

वसन्त—ओ निर्दय ! यह बात, जिस से तू अपने अत्याचार व
उचित सिद्ध करता है, कोई उत्तर नहीं है।

शैलाक—तेरी प्रसन्नता के लिये उत्तर देना मेरा कुछ कर्त
थोड़ा ही है ?

वसन्त—क्या सब लोग ऐसे पशु को मार डालते हैं, जिसे
बुरा समझते हैं ?

शैलाक—संसार में कोई भी ऐसा मनुष्य है, जो किसी जन्तु

मारने से, जिस से वह घृणा करता हो, हाथ उठावे ?

वसन्त—हर एक अपराध से पहली बार घृणा नहीं उत्पन्न हो जाती।

शैलाक—क्या तुम चाहते हो कि मैं साँप को दूसरी बार डसने का अवसर दूँ ?

अनन्त—भगवान् के निहोरे ज़रा विचारो तो कि तुम किस से विवाद कर रहे हो। महाशय ! इस को मार्ग पर लाना तो ठीक वैसी ही बात है, जैसे समुद्र के किनारे खड़े होकर तरङ्गों को आज्ञा देनी कि तुम इतनी ऊँची मत उठो, या भेड़िये से पूछना कि उस ने बकरी के बच्चे को खाकर उस की माँ को दुःख में क्यों फँसाया, या पहाड़ी खजूर के वृक्षों से कहना कि वह अपनी ऊँची फुनगियों को वायु के झोंके से न हिलने दें और न पत्तों की खड़खड़ाहट का शब्द होने दें, ऐसे ही तुम संसार के कठिन से कठिन काम कर लो, इस के पूर्व कि इस के चित्त को ( जिस से कठोरतर दूसरा पदार्थ न होगा ) द्रवित करने का यत्न करो। इसलिए मैं प्रार्थना करता हूँ कि न तो तुम उस से अब देने-दिलाने की बातचीत करो और न इस विषय में अधिक चिन्ता करो, अपितु भाग्य पर सन्तोष कर

साहस न हारो। इस के पहले कि तुम्हारा एक बाल भी टेढ़ा हो, मैं अपना माँस, त्वचा, अस्थि, प्राण तथा धन उस के अर्पण करूँगा।

अनन्त—गल्ले भर में मन्नत की दुर्वल भेड़ मैं ही हूँ! मेरा मरना ही श्रेय है। कोमल फल सब से पहले पृथ्वी पर गिरता है। तो मुझी को गिरने दो। तुम्हारे लिये इस से बढ़कर कोई बात उचित न होगी कि मेरे पश्चात् मेरा जीवन-चरित्र लिखो।

( नरश्री वकील के लेखक के भेस में आती है )

मंडलेश्वर—तुम पांडुपुर से बलवन्त के पास से आये हो ?

नरश्री—जी महाराज, वहीं से, उन्हीं के पास से। बलवन्त ने आप को प्रणाम कहा है।

( एक पत्र देती है।)

वसन्त—क्यों ! तू ऐसे उत्साह से छुरी क्यों तीक्ष्ण कर रहा है ?

शैलाघ—उस दिवालिये के शरीर से दण्ड का माँस काटने के लिए।

गिरीश—अरे निर्दयी राक्षस ! तू अपनी जूती के तले पर छुरी को क्यों तेज़ करता है। तेरा पाषाणतुल्य हृदय तो

प्रस्तुत ही है। पर कोई शस्त्र, यहाँ तक कि वधिक की तलवार भी तेरी शत्रुता के वेग को नहीं पहुँच सकता। क्या तुझ पर किसी की विनती काम नहीं आती?

शैलाच—नहीं, एक की भी नहीं, जो तू अपनी बुद्धि से गढ़ सकता हो।

गिरीश—हा! ओ कठोर कुत्ते! ईश्वर तेरा बुरा करे। यह केवल न्याय का दोप है, जिस ने अब तक तुझे जीता रख छोड़ा है। तूने तो आज मेरे धर्म में वट्टा लगा दिया है, क्योंकि तेरे लक्षणों को देख कर मुझे गोरक्षा के इस विचार को कि पशुओं की आत्मा मनुष्य के शरीर में प्रवेश करती है, मानना पड़ा। तेरी हिंसक आत्मा एक भेड़िये की काया में थी, जो कितने मनुष्यों के जीवन-वध के लिये सूली चढ़ा दी गयी थी। इस अवस्था को पहुँचने पर भी उस नारकी आत्मा को सन्तोप न हुआ और वहाँ से भाग कर जिस समय तू अपनी माता के अपवित्र गर्भ में था, तुझ में पैठ गई, क्योंकि तेरा मनोरथ भी भेड़ियों की भाँति घातक, हिंसक है।

शैलाच—जब तक तेरे अधिकार में इतनी शक्ति न हो कि अनन्त की मुहर को भी मेरी दस्तावेज़ पर से मिटा सके, तब तक इस विचार से क्या फल निकल सकता है!

सभा में विचार हो रहा है ?

पुरश्री—मैं उस के वृत्तान्त को भली भाँति जानने वाला हूँ। वर्णन कीजिये कि इन लोगों में से कौन सौदागर है और कौन शैलात्त ?

मण्डलेश्वर—अनन्त और वृद्ध शैलात्त दोनों सामने खड़े हो जाओ।

पुरश्री—तुम्हारा नाम शैलात्त है ?

शैलात्त—हाँ, मेरा नाम शैलात्त है।

पुरश्री—यह तुम ने विचित्र मुक़द्दमा रच रक्खा है, परन्तु नियमानुसार वंश नगर का क़ानून तुम को उसके प्रयत्न से रोक नहीं सकता। ( अनन्त से ) क्यों साहब! क्या आप ही इन के पंजे में फँसे हैं ?

अनन्त—जी हाँ, मुझी पर इन का लक्ष्य है।

bond

पुरश्री—आप तमस्सुक लिखना स्वीकार करते हैं ?

अनन्त—मैं निस्सन्देह स्वीकार करता हूँ ?

पुरश्री—तब तो आवश्यक है कि शैलात्त दया करे।

शैलात्त—मैं किस बात से दब कर ऐसा करूँ, यह तो कहिये ?

पुरश्री—दया ऐसी वस्तु नहीं, जिसे आग्रह की आवश्यकता हो। वह जलधारा की भाँति नभ-मण्डल से पृथ्वी-तल पर गिरती है। उस का फल मिलता है, पहले उस को

जो करता है और दूसरे उस को, जिसे इसका लाभ पहुँचता है। यह महानुभावों को अधिकतर शोभा देती है, मंडलेश्वरों को मुकुट से अधिक शोभित करती है। राजदण्ड केवल सांसारिक वल प्रकट करता है, जो आतंक और तेज का चिन्ह है और जिससे राजेश्वरों का भय लोगों के चित्त पर छा जाता है; परन्तु दया का प्रभाव राजदण्ड के प्रभाव की अपेक्षा कहीं अधिक है। दया का वासस्थान राजेश्वरों का चित्त है, यह एक ईश्वर की प्रधान महिमा है, अतः संसार के राजेश्वर उसी समय दैवतुल्य प्रतीत होते हैं; जब कि वह न्याय के साथ दया का भी बर्ताव करते हैं। इसलिये हे शैलाक्ष ! यद्यपि तू न्याय-न्याय पुकारता है, किन्तु विचार कर कि केवल न्याय ही के भरोसे पर हम में से कोई मरने के उपरान्त मुक्त होने की आशा नहीं कर सकता। हम ईश्वर से दया की प्रार्थना करते हैं, तो चाहिए यह कि वही प्रार्थना हम को भी दया के काम सिखावे। इतना मैंने तेरे न्याय के आग्रह के हटाने के लिए कहा, पर यदि तू न मानेगा, तो जैसे हो सकेगा, वंशनगर की न्याय-सभा विचारशीला होकर तुझे इस सौदागर पर विजय-पत्र दे देगी।

शैलाक्ष—मेरा किया मेरे सिर पर। मैं राजद्वार से अपने तमस्सुक

के अनुसार दण्ड दिलवाने की प्रार्थना करता हूँ ।

पुरश्री—क्या वह रुपया चुका देने की क्षमता नहीं रखता ?

वसन्त—हाँ, मैं राजद्वार में उन की सन्ती अभी दूना देने को उपस्थित हूँ । यदि इस से भी उस का पेट न भरे, तो मैं उस जमा का दस गुना दूंगा और यदि न दे सकूँ, तो दण्ड में अपना सिर अर्पण करूँगा । यदि इस पर भी वह न माने, तो स्पष्ट है कि शत्रुता के आगे धर्म की दाल नहीं गलती । ( मंडलेश्वर से ) मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप अपने निज अधिकार से इस वार क़ानून का प्रतिवन्ध छोड़ दीजिये, एक वड़े भारी उपकार की अपेक्षा थोड़ी सी अनीति स्वीकार कीजिये और इस अत्याचारी पिशाच की बुराई को रोकिये ।

पुरश्री—ऐसा न होना चाहिए, वंशनगर के क़ानून के अनुसार किसी को यह अधिकार नहीं है कि नीति को रोक सके । यह विचार दृष्टांत की भाँति लिखा जायगा और वहुत सी त्रुटियाँ इस के कारण राजा के कामों में आ पड़ेंगी । यह कदापि नहीं हो सकता ।

शैलाक्ष—वाह वाह ! मानो महात्मा विक्रम आप ही न्याय के लिए उतर कर आये हैं, वास्तव में आप को विक्रम ही कहना चाहिए । हे युवा बुद्धिमान् न्यायकर्त्ता ! मैं नहीं कह

सकता कि मैं चित्त से आप का कितना समादर करता हूँ।

पुरश्री—कृपाकर, तनिक मुझे तमस्सुक तो देखने दो।

शैलाक्ष—लीजिए सुप्रतिष्ठित वकील महाशय, यह उपस्थित है।

पुरश्री—शैलाक्ष ! तुम्हें तुम्हारे मूलधन का तिगुना मिल रहा है।

शैलाक्ष—शपथ, शपथ, मैं शपथ जो खा चुका हूँ। क्या मैं झूठी शपथ खाने का पाप अपने माथे पर लूँ ? न, कदापि नहीं। यदि मुझे इस के बदले में वंशनगर का राज्य भी हाथ आए, तो भी ऐसा न करूँ।

पुरश्री—इस तमस्सुक की मिति तो टल चुकी और इस के अनुसार विवेकतः शैलाक्ष को अधिकार है कि सौदागर के हृदय के पास से आध सेर माँस काट ले, परन्तु उस पर दया करके और तिगुना रुपया लेकर मुझे तमस्सुक फाड़ डालने की आज्ञा दे।

शैलाक्ष—हाँ, उस समय जब कि मैं लिखे अनुसार दण्ड दिला पाऊँ। मुझे प्रतीत होता है कि आप एक योग्य न्यायी हैं, आप क़ानून से परिचित हैं और उस के तात्पर्य को भी ठीक समझते हैं, तो मैं आप को उस की शपथ देता हूँ, जिस के आप पूरे आधार हैं, आप आज्ञा सुनाने में विलम्ब न करें। मैं अपने प्राण की सौगन्ध खाकर कहता हूँ कि मनुष्य की जिह्वा में इतनी समर्थ्य नहीं कि मेरा यह

था, उस का भी वर्णन करना, मेरे प्राण देने के ढङ्ग को सराहना और जिस समय मेरी कहानी कह चुको, तो उन से न्याय-दृष्टि से पूछना कि किसी समय में भी वसन्त का कोई चाहने वाला था या नहीं। मेरे प्यारे! तुम इस बात का खेद न करो कि तुम्हारा मित्र संसार से उठा जाता है, क्योंकि निश्चय मानो कि उसे इस बात का ज़रा भी शोक नहीं कि वह तुम्हारे ऋण को अपने प्राण दे कर चुकाता है।

वसन्त—अनन्त! मेरा विवाह एक स्त्री के साथ हुआ है, जिसे मैं अपने प्राण से भी अधिक प्रिय समझता हूँ, परन्तु मेरा प्राण, मेरी स्त्री और सारा संसार तुम्हारे जीवन के सामने तुच्छ हैं, और तुम को इस दुष्ट राक्षस के पंजे से छुड़ाने के लिये मैं उन सब को खोने, वरंच तुम पर से न्योछावर करने को प्रस्तुत हूँ।

पुरश्री—यदि तुम्हारी स्त्री इस स्थान पर उपस्थित होती, तो तुम्हारे मुँह से अपने विषय में ऐसे शब्द सुन कर अवश्य अप्रसन्न होती।

गिरांग—मेरी एक स्त्री है, जिसे मैं सचमुच प्यार करता हूँ, किन्तु, यदि उस के स्वर्ग में जाने से सहायता मिल

सकती, तो मैं इस पापी के चित्त को फेर देता।

पुरश्री—यही कुशल है कि तुम उस की पीठ पीछे ऐसा कहते हो, नहीं तो न जाने आज कैसी आफ़त मचती।

शैलाच—( आप ही आप ) इन आर्य्य अधर्मियों की बातें सुनो! मेरी बेटी का विवाह यदि बरबंड के सदृश किसी व्यक्ति से हुआ होता, तो मैं इस की अपेक्षा अधिक पसंद करता कि वह एक आर्य्य की स्त्री बने। (चिल्ला कर) समय व्यर्थ जाता है। मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप अपना विचार सुना दें।

पुरश्री—इस सौदागर के शरीर का आध सेर माँस तुम्हारा ही है, जिसे कि क़ानून दिलाता है और राजसभा दिलाती है।

शैलाच—वाह रे न्यायी!

पुरश्री—और यह माँस तुम को उस की छाती से काटना चाहिए। क़ानून इस को उचित समझता है और न्यायसभा आज्ञा देती है।

शैलाच—ऐ मेरे सुयोग्य न्यायकर्त्ता! इस का नाम विचार है। ( अनन्त से ) आओ प्रस्तुत हो।

पुरश्री—थोड़ा ठहर जा, एक बात और शेष है। यह तमस्सुक तुझे एक बूँद भी रुधिर नहीं दिलाता, 'आध सेर माँस' ये ही शब्द स्पष्ट लिखे हैं। इसलिये अपना प्रण प्राप्त कर

ले, अर्थात् आध सेर माँस ले ले, परन्तु यदि काटने के समय इस आर्य्य का एक बूँद भी रक्त गिराया, तो वंशनगर के क़ानून के अनुसार तेरी सब सम्पत्ति और लक्ष्मी वा सामग्री राज्य में मिला ली जायगी।

गिरीश—वाह रे विवेकी!—सुन पिशाच! ऐ मेरे सुयोग्य न्यायी!

शैलाक्ष—क्या यह क़ानून में लिखा है?

पुरश्री—तुझे क़ानून दिखला दिया जायगा, क्योंकि जितना 'न्याय-न्याय' पुकारता है, उस से अधिक न्याय तेरे साथ करता जायगा।

गिरीश—आह! वाह रे न्याय! देखा राक्षस! कैसे विवेकी न्यायकर्ता हैं।

शैलाक्ष—अच्छा, मैं उस की प्रार्थना स्वीकार करता हूँ—तमस्सुक का तिगुना देकर वह अपनी राह ले।

बसन्त—ले, यह रुपये हैं।

पुरश्री—ठहरो, इस के साथ पूरा न्याय किया जायगा, थोड़ा धीरज धरो, शीघ्रता नहीं है, उसे दण्ड के अतिरिक्त और कुछ न दिया जायगा।

गिरीश—ओ शैलाक्ष! देख तो कैसे धार्मिक और योग्य न्यायी

हैं ! वाह वाह !

पुरश्री—तो अब तू माँस काटने को प्रस्तुत हो जा, परन्तु सावधान, स्मरण रखना कि रक्त नाम को भी न निकलने पावे और न आध सेर माँस से न्यून वा अधिक कटे। यदि तूने ठीक आध सेर से थोड़ा सा भी न्यूनाधिक काटा, यहाँ तक कि यदि उस में एक रत्ती के बीसवें भाग का भी अन्तर पड़ा, अथवा यदि तराज़ू की डाँड़ी बीच से बाल बराबर भी इधर या उधर हटी, तो तू ही न मारा जायगा, अपितु तेरा सारा धन और सम्पत्ति छीन ली जायगी।

गिरीश—वाह वाह ! मानो महाराज विक्रम आप ही न्याय के लिये उतर आये हैं। अरे देख ! महाराज विक्रम ही तो हैं ! भला अधम ! तू अब मेरे हाथ चढ़ा है।

पुरश्री—ओ पिशाच ! तू अब किस सोच विचार में पड़ा है ? अपना दण्ड ग्रहण कर ले।

शैलाक्ष—अच्छा, मुझे मूलधन दे दो, मैं अपने घर जाऊँ।

वसन्त—ले, यह रुपया उपस्थित है।

पुरश्री—यह भरी सभा में रुपये का लेना अस्वीकार कर चुका है। अब इसे न्याय और दण्ड के अतिरिक्त कुछ न मिलेगा।

गिरीश—विक्रम महाराज ! सचमुच यह विक्रम ही तो हैं। ऐ शैलाच ! मैं तेरा धन्यवाद करता हूँ कि तूने मुझे अच्छा शब्द बतला दिया ।

शैलाच—क्या मुझे मेरा मूलधन भी न मिलेगा ?

पुरश्री—तुझे दण्ड के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलने का । इस लिए हे शैलाच ! अपने जी पर खेल कर उसे वसूल कर ले ।

शैलाच—अच्छा, मैंने उसे राक्षस को सौंपा । अब मैं यहाँ कदापि न ठहरूँगा ।

पुरश्री—ठहर ओ शैलाच ! तुझ पर क़ानून की एक और धारा है। वंशनगर के क़ानून में यह लिखा है कि यदि किसी परदेशी के विषय में यह सिद्ध हो कि उस ने प्रकट या गुप्त रीति पर वंशनगर के किसी रहने वाले के वध करने की चेष्टा की, तो वह वादी जिस के विषय में ऐसा यत्न किया गया हो, अपने प्रतिवादी की आधी सम्पत्ति पर अधिकार पाने का दायी है और शेष आधा भाग राजकोष में ग्रहण किया जायगा। अपराधों से मुक्त करने का केवल मण्डलेश्वर को अधिकार है । इस में कोई दूसरा हस्तक्षेप नहीं कर सकता । तू जान कि इस समय तेरी अवस्था अत्यन्त शोचनीय है, क्योंकि मुक़द्दमे के विवरण से यही स्पष्ट है कि तूने जानबूझ कर प्रतिवादी के प्राण लेने की

चेष्टा की और इस भाँति उस आपत्ति में जिस का मैं ऊपर वर्णन कर चुका हूँ, फँसा है। इसलिए तुझे उचित है कि मंडलेश्वर के चरणों पर सिर रख कर दया की प्रार्थना कर।

गिरीश—सुन शैलाक्ष ! मैं तुझे एक उपाय बताऊँ। मंडलेश्वर से निवेदन कर कि तुझे आप फाँसी लगा कर मर जाने की आज्ञा दें ; परन्तु तेरा धन और सम्पत्ति तो छीन ली जायगी। अब तेरे पास इतना बचेगा कहाँ कि रस्सी मोल ले सके ? इसलिये तुझ को राजा ही के व्यय से फाँसी देनी पड़ेगी।

मंडलेश्वर—जिस में तुझे हमारे और अपने स्वभाव में अन्तर जान पड़े, मैंने बेमाँगे तेरी जान बचा दी ! अब रही तेरी सम्पत्ति, सो उस में से आधी तो अनन्त की हो चुकी और आधी राज्य की, जिस के बदले में यदि तू दीनता प्रकाश करेगा, तो दण्ड ले लिया जायगा !

पुरश्री—अर्थात् जितना राज्यांश है उस के बदले में, अनन्त के भाग से कुछ प्रयोजन नहीं।

शैलाक्ष—नहीं, मेरे प्राण और सब कुछ भी ले लीजिये, वह भी न क्षमा कीजिए। जब कि आप उस आधार को जिस पर मेरा घर खड़ा है, लिये लेते हैं, तो मेरे घर को पहले ले

चुके । इसी भाँति जब कि आपने मेरे जीवन का आधार छीन लिया, तो मानो मेरा प्राण पहले ले चुके ।

पुरश्री—अनन्त ! तुम उस के साथ कितनी दया कर सकते हो ?

गिरीश—भगवान् के वास्ते सिवाय एक रस्सी के जिस से वह फाँसी लगा कर मर सके और कुछ व्यर्थ न देना ।

अनन्त—मैं मंडलेश्वर और राजसभा से विनती करता हूँ कि उस के अर्द्ध भाग के बदले का दण्ड मैं देने को प्रस्तुत हूँ, इस शर्त पर, कि वह भाग शैलाक्ष मेरे पास धरोहर की भाँति जमा रहने दे, जिस से उस के मरने पर जो मनुष्य उस की लड़की को ब्याहेगा, उस को सौंप दूंगा ; परन्तु इस के साथ दो प्रण हैं—अर्थात् पहले तो वह इस बर्ताव के लिये आर्य्य हो जाय और दूसरे इस समय सभा में एक दानपत्र इस आशय का लिख दे कि उस के मरने पर उस की सारी सम्पत्ति उस के जामाता और उस की लड़की को मिले ।

मंडलेश्वर—उसे यह करना ही पड़ेगा, नहीं तो मैंने जो क्षमा की आज्ञा अभी दी है, उसे काट देता हूँ ।

पुरश्री—क्यों शैलाक्ष ! तू इस पर प्रसन्न है ? कह, क्या कहता है ?

शैलाक्ष—मैं प्रसन्न हूँ ।

पुरश्री—लेखक, अभी एक दानपत्र लिखो ।

शैलाच—भगवान् के लिये मुझे यहाँ से जाने की आज्ञा दीजये, मेरी बुरी दशा है। पांडुलिपि मेरे मकान पर भेज दीजिये, मैं हस्ताक्षर कर दूंगा।

मंडलेश्वर—अच्छा, जा, परन्तु हस्ताक्षर कर देना।

( शैलाच जाता है )

मंडलेश्वर—महाशय, मैं प्रार्थना करता हूँ कि आज आप मेरे साथ भोजन करें।

पुरश्री—महाराज, मुझे क्षमा करें, आज ही रात को मुझे पांडुपुर जाना है और यह अत्यन्त आवश्यक है कि मैं अभी चला जाऊँ।

मंडलेश्वर—मुझे खेद है कि आप को अवकाश नहीं है। अनन्त! इन का भली भाँति सत्कार करो, क्योंकि मेरे विचार से तुम पर इन का बड़ा उपकार है।

( मंडलेश्वर, बड़े बड़े प्रधान और उन के नौकर-चाकर जाते हैं। )

वसन्त—ऐ मेरे सुयोग्य उपकारी, आज मैं और मेरे मित्र आप की बुद्धिवैभव से आपत्ति से मुक्त हुए, जिस के बदले

जो शैलाक्ष के छः सहस्र मुद्रा थे, मैं बड़ी प्रसन्नता से आप की भेंट करता हूँ, क्योंकि आप ने हमारे लिए कष्ट सहन किया है।

अनन्त—इस के अतिरिक्त हम लोग जन्म भर तन मन से आप के दास बने रहेंगे।

पुरश्री—जिस मनुष्य का चित्त अपने किये पर तुष्ट हुआ, उस ने अपनी सारी मजदूरी भर पाई और मेरे चित्त को इस बात की बड़ी प्रसन्नता है कि आप मेरे द्वारा मुक्त हुए। इस से मैं समझता हूँ कि आपने मुझ को सब कुछ दिया। मेरे चित्त में आज तक पारिश्रमिक पाने का ध्यान नहीं हुआ है, क्योंकि मुझे किराये के टट्टू बनने से घृणा है। कृपापूर्वक जब मेरा और आपका कभी फिर साक्षात् हो, तो मुझे स्मरण रखियेगा। ईश्वर आप की रक्षा करें, अब मैं विदा होता हूँ।

वसन्त—महाशय! मेरा धर्म है कि इस बारे में आप से फिर प्रार्थना करूँ कि कृपा करके कोई वस्तु हम लोगों के स्मरणार्थ पारिश्रमिक करके नहीं, वरंच एक स्मारक चिन्ह की भाँति स्वीकार कीजिए। मेरी प्रार्थना है कि आप मेरी दो बातें स्वीकार करें, एक तो यह कि आप मेरी प्रार्थना को स्वीकार करें और दूसरे मेरी धृष्टता को

क्षमा करें।

पुरश्री—आप मुझे अत्यन्त दबाते हैं, इसलिए अब अधिक अस्वीकार करना निश्शीलता है। अच्छा, एक तो मुझे आप अपने दस्ताने दें, मैं उन्हें आपकी प्रसन्नता के लिए पहनूँगा, और दूसरे आप के स्नेह के चिन्ह में इस अँगूठी को लूँगा—हाथ न खींचिए, मैं और कुछ न लूँगा, पर मुझे निश्चय है कि आप मेरे स्नेह के लिए इसे देने में अस्वीकार न करेंगे।

वसन्त—यह अँगूठी, महाशय! खेद! यह तो एक अत्यन्त तुच्छ वस्तु है, मुझे आप को देते हुए लज्जा आती है।

पुरश्री—मैं इसको छोड़ और कुछ कदापि न लूगा और मुख्य रूप से अब मेरा जी इस के लेने को बहुत ही चाहता है।

वसन्त—मैं इस के मोल के ध्यान से यह बातचीत नहीं करता, इस में कुछ और ही भेद है। वंशनगर के राज्य में जो अँगूठी सबसे अधिक मूल्य की होगी, उस को सूचना देकर मँगवाऊँगा और आप के अर्पण करूँगा, पर केवल इस अँगूठी के लिए आप मुझे क्षमा करें।

पुरश्री—बस, महाशय बस, मैंने समझ लिया कि आप बातों के बड़े धनी हैं। पहले तो आप ने मुझे भीख माँगना सिखलाया और अब वह ढङ्ग बताते हैं कि भिखमंगे को

किस भाँति टालना चाहिए।

बसन्त—मेरे सुहृद! यह अँगूठी मुझे मेरी स्त्री ने दी थी और जिस समय उस ने इसे मेरी अँगुली में पहनाया, तो मुझ से इस बात की प्रतिज्ञा ले ली कि न तो मैं इसे कभी बेचूँ, न किसी को दूं और न खोऊँ।

पुरश्री—इस भाँति चुटकिले प्रायः बहाना करने वालों के पास गढ़े-गढ़ाए रहते हैं। यदि आपकी स्त्री पागल न होंगी, तो वह इस बात के जान लेने पर कि मैंने आप के साथ इस अँगूठी की लागत से कितना बढ़ कर सुलूक किया, इस के दे डालने पर आप से सदा के लिए शत्रुता कदापि न ठान लेंगी। अच्छा, मेरा प्रणाम लीजिए।

( पुरश्री और नरश्री जाती हैं )

अनन्त—मेरे सुहृद बसन्त! अँगूठी उन्हें दे दो। इस समय उन के उपकार और मेरी प्रीति को अपनी स्त्री की आज्ञा से बढ़ कर समझो।

बसन्त—जाओ गिरीश! दौड़ कर उन तक पहुँचो। यह अँगूठी उन के भेंट करो और यदि बन पड़े, तो उन्हें किसी भाँति अनन्त के घर पर लाओ। बस, अब चले ही जाओ, देर न करो। ( गिरीश जाता है ) आओ, हम तुम भी वहीं चलें। कल बड़े तड़के हम दोनों बिल्वमठ की ओर चलेंगे। अनन्त आओ! ( जाते हैं )

## चौथा दृश्य

वंशनगर की एक सड़क

( पुरश्री और नरश्री आती हैं )

पुरश्री—शैलाक्ष के घर का पता लगा कर उस से झटपट इस पांडुलिपि पर हस्ताक्षर करा लो। हम लोग आज ही रात को चलते होंगे। जिस में अपने पति से एक दिन पहले घर पहुँच रहें।

( गिरीश आता है )

गिरीश—महाराज, बड़ी बात हुई कि आप मिल गए। मेरे मालिक वसन्त ने अन्ततः सोच-समझ कर यह अँगूठी आप की सेवा में भेजी है और प्रार्थना की है कि आज आप उन्हीं के साथ भोजन करें।

पुरश्री—मैं असमर्थ हूँ, हाँ उनकी अँगूठी मैंने सिर आँखों से स्वीकार की। तुम मेरी ओर से जाकर विनती कर देना। अब तुम इतनी कृपा और करो कि मेरे लेखक को

शैलाच का घर दिखला दो।

गिरीश—मैं प्रस्तुत हूँ।

नरश्री—( पुरश्री से ) महाशय ! मैं आप से कुछ विनय किया चाहता हूँ—( अलग ले जाकर कहती हैं ) देखिए मैं भी अपने पति की अँगूठी को लेने का यत्न करती हूँ। मुझ से उन्होंने शपथ खाई थी कि मैं उसे जन्म भर अपने से पृथक् न करूँगा।

पुरश्री—अवश्य, चूकिये मत, हम लोगों को अच्छा अवसर हाथ आयेगा। वे लोग शपथ खायेंगे कि हम ने अगूठी पुरुषों को दी हैं, परन्तु हम लोग उन की एक न मानेंगी, और सौगन्ध खाकर उन्हें झूठा बना देंगी। बस, अब चली ही जाओ। तुम जानती हो, जहाँ मैं ठहरी रहूँगी।

नरश्री—आइए महाशय, मुझे वह घर बतला दीजिए।

( दोनों जाते हैं )

---

## पाँचवाँ दृश्य

( स्थान—विल्वमठ, पुरश्री का घर )

( वसन्त, अनन्त, गिरीश और उन के नौकर-चाकर आते हैं। )

वसन्त—प्यारी ! मैं तुम्हें धन्यवाद देता हूँ, पर इस समय तुम मेरे मित्र के आने पर प्रसन्नता प्रकट करो। यही अनन्त हैं, जिन का मैं अन्तःकरण से अत्यन्त उपकृत हूँ।

पुरश्री—इस में कोई संदेह है ! आप को अवश्य उपकार मानना चाहिए, क्योंकि जहाँ तक मैंने सुना है, उन्होंने आप के साथ बड़ा उपकार किया है।

अनन्त—आप लोग ऐसा कहने से मुझे व्यर्थ लज्जित करते हैं, मैंने तो जो कुछ सेवा की होगी, उस से कहीं अधिक भर पाया।

पुरश्री—महाशय ! आप के पधारने से हमारे घर की शोभा और हम लोगों की प्रसन्नता दूनी हुई, परन्तु मुख से कहना बनावट है और मैं अपने आन्तरिक हर्ष के लिए बनावट की आवश्यकता नहीं समझती।

( गिरीश और नरश्री पृथक् बातें करते जान पड़ते हैं । )

गिरीश—शपथ है अपने प्राण की, तुम मुझ पर झूठा दोष लगाती हो । मैंने सचमुच उसे न्यायकर्ता के लेखक को दिया ।

पुरश्री—वाह, वाह ! आते ही झगड़ा होने लगा ! यह क्या बात है ?

गिरीश—एक सोने के छल्ले के लिए, एक टके की मुंदरी के लिए जो आप ने दी थी और जिस पर यह वाक्य खुदा था, ( जैसा कि प्रायः बिसातियों की छुरियों पर लिखा होता है—) "मुझ से स्नेह रक्खो और कभी जुदा न हो ।"

नरश्री—तुम लिखने और मूल्य का क्या कहते हो ? क्या तुम ने लेने के समय शपथ नहीं खाई थी कि मैं उसे आमरण अपनी उँगली में रक्खूँगा और वह मेरे साथ समाधि में जायगी ? यदि मेरा कुछ ध्यान न था, तो भला अपनी कठिन सौगंधों का तो ध्यान करते ? न्यायी के लेखक को दिया !

गिरीश—शपथ भगवान की, मैंने उसे एक लड़के को दिया, एक ठिंगने कद के छोकरे को, जो तुम से ऊँचा न था । यह न्यायपति का लेखक था । उस ने ऐसी मीठी-मीठी बातें कर के अँगूठी पारितोषिक में माँगी कि मैं अस्वीकार न कर सका और उस को सौंपते ही बना ।

पुरश्री—सुनो साहिब ! मैं स्पष्ट कहती हूँ कि इस विषय में सब दोष तुम पर है कि एक लड़के की बातों में आकर अपनी स्त्री का दिया हुआ पहला चिन्ह उसे दे डाला और वह चिन्ह जिसे तुम ने अपनी उँगली में पहनने के समय सौगन्ध की बौछार मचा दी थी और प्रतिज्ञा के ढेर लगा दिये थे, ऐसे सहज में दे दिया। मैंने भी अपने प्यारे स्वामी को एक अँगूठी दी है और उन से शपथ ले ली है कि उसे कभी जुदा न करें—यह देखिये, वह यहाँ उपस्थित हैं—परन्तु उन की सन्ती मैं शपथ खा सकती हूँ कि यदि कोई उन्हें कुवेर का भण्डार भी अर्पण करे, तो वे उसे अपनी उँगली से न उतारें, दे डालना तो दूर है। तात्पर्य यह कि गिरीश ! तुम ने अपनी स्त्री को व्यर्थ इतना बड़ा दुःख दिया, यदि मैं उस के स्थान पर होती, तो इस समय क्रोध के मारे पागल हो जाती !

बसन्त—( आप ही आप ) इस समय इस से उत्तम कोई उपाय नहीं कि मैं अपना बायाँ हाथ काट डालूँ और शपथ खा लूँ कि जहाँ तक वश चला, रक्षा की, परन्तु अन्त को जब हाथ कट गया, तो उसी के साथ अँगूठी भी गई।

गिरीश—मेरे स्वामी बसन्त ने अपनी अँगूठी वकील को उस की प्रार्थना पर दे दी और निस्सन्देह उस ने काम भी

ऐसा ही किया था। इस पर उस के लेखक ने लिखाई की सन्ती मेरी अँगूठी माँगी और अभाग्य यह कि उसे और उस के स्वामी दोनों को इस बात का आग्रह हुआ कि सिवाय उन अँगूठियों के और कोई वस्तु हाथ से न छुएँगे।

पुरश्री—क्यों साहिब! आपने कौनसी अँगूठी दी? वह तो काहे को दी होगी, जो आपने मुझ से पाई थी?

वसन्त—यदि मुझे झूठ बोल कर अपने अपराध को दूना कर देना स्वीकार हो तो हाँ, निस्सन्देह अस्वीकार करूँ, परन्तु तुम देखती ही हो कि मेरी उँगली में अँगूठी नहीं है, वह जाती रही।

पुरश्री—ऐसे ही आप भी निर्दयचित्त स्नेह से शून्य हैं। शपथ भगवान् की, जब तक आप मेरी अँगूठी मेरे सामने लाकर न रखियेगा, तब तक मैं अन्न-जल छोड़ दूँगी।

नरश्री—( गिरीश से ) और मैं भी जब तक अपनी अँगूठी देख न लूँगी, आप से बात न करूँगी।

वसन्त—पुरश्री! यदि तुम्हें विदित हो कि मैंने अँगूठी किसे दी, जब कि वह पुरुष उस अँगूठी के अतिरिक्त दूसरी वस्तु के लेने पर प्रसन्न ही नहीं होता था, तो

तुम्हारा क्रोध इतना न रह जाय।

पुरश्री—यदि आप को उस अगूठी का गौरव विदित होता, अथवा अपनी बात का कि "मैं सदा अँगूठी प्राण-सदृश रक्खूँगा" एक भी विचार किया होता, तो आप उसे कभी अपने से जुदा न करते। भला कौन ऐसा मूर्ख होगा कि आप से निर्लज्जता के साथ एक रीति की वस्तु माँगने जाता, यदि आपने चित्त से उस के कुछ भी न देने का यत्न किया होता। नरश्री का विचार मुझे ठीक प्रतीत होता है, मैं शपथ खा सकती हूँ कि आपने अगूठी अवश्य किसी स्त्री को दी है।

वसन्त—म अपनी प्रतिष्ठा, अपने प्राण की शपथ खाकर कहता हूँ कि मैंने उसे किसी स्त्री को नहीं दिया, अपितु एक वकील को, जिस ने छः हजार रुपया लेना अस्वीकार किया और केवल वह अँगूठी माँगी। फिर भी मैंने निवेदन किया और उसे अप्रसन्न होकर चले जाने दिया, यद्यपि यह वह पुरुष था, जिस ने मेरे प्यारे मित्र की जान बचाई थी। मेरी प्यारी! तुम ही बतलाओ कि मैं क्या करता? मेरे शील ने सहन न किया कि ऐसे उपकारी को अप्रसन्न करूँ, मुझे बड़ी लज्जा आई

और स्वभाव इस बात को सह न सका कि मैं अपनी मर्यादा में कृतघ्नता का धब्बा लगाऊँ। अन्त को मुझे विवश होकर अँगूठी उसके पास भेज देनी पड़ी। मेरी प्यारी! मेरा अपराध क्षमा करो। शपथ है, यदि तुम वहाँ होतीं, तो अँगूठी को मुझ से छीन कर उस योग्य वकील को सौंप देतीं।

अनन्त—मैं ही अभागा इन झगड़ों का कारण हूँ।

पुरश्री—आप न उदास हूजिए, आप के आने की मुझे बड़ी प्रसन्नता है।

वसन्त—पुरश्री! इस बार मेरा अपराध जो निरी विवशता की अवस्था में हुआ, क्षमा कर दो।

अनन्त—मैंने एक बार रुपयों के बदले अपना शरीर इन के लिये धरोहर रक्खा था। और अब मैं इस बार अपने प्राण को ज़मानत में दे करके प्रतिज्ञा करता हूँ कि आप के स्वामी फिर कभी जानबूझ कर अपना वचन न तोड़ेंगे।

पुरश्री—तो मैं आप को उन का ज़ामिन समझूँगी। अच्छा, उन्हें यह अँगूठी दीजिये और शपथ ले लीजिए कि इस

को पहले से अधिक सावधानी के साथ रक्खें।

अनन्त—लो वसन्त, इस को लो और शपथ खाओ!

वसन्त—शपथ भगवान् की, यह वही अँगूठी है, जो मैंने उस वकील को दी थी! आप ही वकील थीं और मैंने पहचाना तक नहीं!

गिरीश—( नरश्री से ) क्या आप ही वह लेखक हैं?

नरश्री—जी हाँ, वही लेखक।

# परीक्षा

# उत्थानिका

कुरुवंश में धृतराष्ट्र और पांडु दो भाई थे, धृतराष्ट्र बड़े थे और पांडु छोटे, परन्तु बड़े भाई के अन्धे होने से सिंहासन पर पांडु ही बैठे। पांडु के पाँच पुत्र थे—युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव और धृतराष्ट्र के सौ पुत्र थे, जिन में दुर्योधन सब का अग्रज था। पांडु की मृत्यु के बाद नीति और दायाधिकार के नियमानुसार राज्य के अधिकारी पांडव थे, पर दुर्योधन को यह स्वीकृत न था। इसी कारण से वह पांडवों से द्वेष करने लग गया था। मामला यहाँ तक बढ़ गया कि वह पांडवों को मार कर सदा के लिए रार मिटाना चाहता था। इस ध्येय की पूर्त्ति में उस का मामा शकुनि उसका प्रमुख सहायक था।

पांडवों का एक और भाई कर्ण था। उस की जन्म-कथा कुन्ती ने पांडवों से छिपा रक्खी थी, कर्ण को भी इस का कुछ पता न था। वह इतना शूर था कि यदि अर्जुन के मुक़ाबले में कोई

ठहर सकता था, तो वही ठहर सकता था। उस का लालन-पालन एक अधिरथ नाम के सूत के यहाँ हुआ था, अतः वह सौति (शूद्र) नाम से प्रसिद्ध था।

कौरवों और पांडवों का शिक्षा-भार आचार्य द्रोण जी को सौंपा गया था। कर्ण भी उन से शिक्षा प्राप्त करने को उत्सुक था, पर वे सौति होने के कारण कर्ण को शस्त्र शिक्षा देने को सहमत न हुए। इस पर उसे बहुत क्रोध आया। उस ने ब्राह्मण वेष में द्रोण जी के गुरु परशुराम जी के पास जाकर उन से अस्त्र-शिक्षा ली। कौरव और पांडव आचार्य की देख-रेख में अस्त्र-चातुरी में अत्यन्त निपुण हो गये। महाराज धृतराष्ट्र के कहने पर उन की अस्त्र परीक्षा का एक दिन नियत किया गया। दूर दूर के लोग आकर उन की चातुरी के दृश्य देखने लगे। हर एक कुमार ने अपनी चातुरी की परीक्षा दी, पर जब अर्जुन ने अपने करतब दिखाये, तो लोग दंग रह गये। प्रत्येक के मुख से प्रशंसा के वचन निकलने लगे।

इतने में कर्ण हाथ में धनुष उठाये हुए लोगों की भीड़ को चीरता हुआ वहाँ आ धमका और अर्जुन को ललकार कर उस से प्रतिद्वन्द्वता करने को तैयार हो गया। इधर अर्जुन भी तैयार था। जब दोनों में मुक़ाबला शुरू होने को ही था, तो इस बात का पता लग गया कि कर्ण सूत-पुत्र है। कृपाचार्य ने राज-कुमार अर्जुन का मुक़ाबला सूत-पुत्र कर्ण से न होने दिया।

पांडवों की अस्त्र-चातुरी को देख कर दुर्योधन शोकसागर में डूबा जा रहा था। उस डूबते हुए को एक तिनके का सहारा मिल गया। कर्ण की अस्त्र-निपुणता और अर्जुन से ईर्ष्या देख कर वह आनन्द से नाच उठा और झट कर्ण को अपने गले से लगाकर उसे अंग-राज्य दे दिया। जब राजा वन जाने के बाद कर्ण फिर अर्जुन का मुक़ाबला करने को उद्यत् हुआ, तो इतने में संध्या-समय हो गया। बात वहीं रह गई।

## पात्र

द्रोण ........................................ कौरवों-पांडवों के आचार्य

| | | |
|---|---|---|
| युधिष्ठिर<br>भीम<br>अर्जुन<br>नकुल<br>सहदेव | } | ........ पाँच पांडव |
| दुर्योधन<br>और<br>अन्य कौरव | } | ......... धृतराष्ट्र के पुत्र |

कृपाचार्य ........ द्रोण का साला
कर्ण ............ कुन्ती-पुत्र
शकुनि .......... दुर्योधन का मामा
पुरवासी
गान्धारी ....... धृतराष्ट्र की रानी
कुन्ती ....... ... पांडु-पत्नी

## पहला दृश्य

स्थान—एक बाज़ार

(समय—मध्याह्न, लोग सड़क पर चल फिर रहे हैं।)

एक मनुष्य—( सामने से आते दूसरे मनुष्य को ) कहाँ जा रहे हो भाई देवदत्त ?

देवदत्त—उधर ही तो, जिधर सब लोग जा रहे हैं। क्या तुम नहीं चलोगे ?

यज्ञदत्त—भाई ! जाने को जी तो चाहता है, पर क्या करूँ, घर के कामों ने नाक में दम कर रक्खा है, उन से छुट्टी ही नहीं पाने पाता।

देवदत्त—अरे भाई ! घर के कामों से तो तभी छुट्टी मिलेगी, जब यमराज का निमन्त्रण आयेगा।

यज्ञदत्त—तब तो छूटेंगे ही, किसी पर अहसान थोड़े करेंगे।

(सामने से धर्मदेव और शान्तिदेव आते हैं।)

धर्मदेव—( देवदत्त के कंधे पर हाथ रख कर ) देवदत्त भैया चलोगे न ?

देवदत्त—चलूँगा क्यों न ! मुझे यज्ञदत्त जैसे काम-काज थोड़े ही हैं। जब जी चाहता है काम करता हूँ, जब जी चाहता है छोड़ देता हूँ।

धर्मदेव—क्या यज्ञदत्त न जायेगा ? (यज्ञदत्त की ओर ) अरे भाई, संसार के काम तो होते ही रहते हैं, पर ऐसा अवसर मेरे-तुम्हारे जीवन काल में आने का नहीं।

शान्तिदेव—इस में क्या संदेह है ! मैंने सुना है कि राजकुमार बहादुरी के ऐसे ऐसे करतब दिखाते हैं कि देखने वाले दंग रह जाते हैं।

धर्मदेव—जो बातें सुनी भी नहीं, वे देखने को हैं। सुना है कुमार अर्जुन ने धनुर्विद्या में अति-प्रवीणता प्राप्त कर ली है। एक तीर चलाता है, तो अंधकार हो जाता है।

शान्तिदेव—और उसी दम जब एक और छोड़ता है, तो न जाने अन्धकार कहाँ रफूचक्कर हो जाता है, सर्वत्र प्रकाश हो जाता है।

देवदत्त—इस से भी बढ़ कर चकित करने वाली एक और बात सुनी है। जब चाहे वह तीर छोड़ कर मेंह बरसा सकता है।

शान्तिदेव—अजी यही नहीं, उस के तीर आग बरसा सकते हैं,

साँप छोड़ सकते हैं, निद्रा ला सकते हैं, और न मालूम क्या क्या कर सकते हैं।

यज्ञदत्त—तो क्या ये सब करतब आज ही दिखाये जायेंगे ?

देवदत्त—आज न दिखाये जायँगे, तो कब दिखाये जायेंगे ! आज ही तो कुमारों की परीक्षा का दिन है।

यज्ञदत्त—परीक्षा लेंगे कौन ?

धर्मदेव—द्रोणाचार्य जी के सिवा और कौन ले सकता है ? अर्जुन की परीक्षा लेने में और किस की क्षमता है ? गुरु गुड़ तो चेला शक्कर—यह कहावत यहीं चरितार्थ हो सकती है।

यज्ञदत्त—वहाँ और क्या क्या होगा ?

शान्तिदेव—तरह तरह के खेल दिखाये जायेंगे, गदायुद्ध होंगे, अस्त्रचातुरी दिखाई जायगी।

देवदत्त—गदा-युद्ध किन में होगा ?

शान्तिदेव—कुमार भीमसेन और दुर्योधन में।

देवदत्त—दुर्योधन भीम का क्या मुक़ाबला करेगा ! एक ही प्रहार से बच्चा मुँह के बल गिरेगा।

धर्मदेव—ऐसा मत कहो। गदा चलाने में दुर्योधन भी किसी से कम नहीं। संसार में यदि कोई भीम का साम्मुख्य कर सकता है, तो दुर्योधन ही कर सकता है।

( बाजों की आवाज़ आती है )

देवदत्त—हम लोग यहीं खड़े तर्क-वितर्क कर रहे हैं और उधर खेल आरम्भ होने को है ।

धर्मदेव—मालूम तो ऐसा ही होता है । बाजों की आवाज शायद रंग-भूमि से ही आ रही है ।

देवदत्त—तो अब चलना चाहिए ।

सब—हाँ हाँ ! चलें, बहुत भीड़ लग गई, तो फिर खड़े होने को भी स्थान न मिलेगा ।

यज्ञदत्त—तुम लोग चलो, मैं भी घर से होकर आता हूँ ।

धर्मदेव—फिर वही बात !

देवदत्त—अरे जाने दो इस सड़ियल आदमी को, रात-दिन काम-धन्धे में ही फँसा रहता है ।

धर्मदेव—फँसा रहा करे, हमें क्या ! हम तो न कुछ लेकर आये हैं और न कुछ लेकर जायेंगे । जो दिन आनन्द से कट जायें, वे ही अच्छे ।

( देवदत्त, शान्तिदेव और धर्मदेव जाते हैं )

यज्ञदत्त—इन लोगों की बुद्धि पर बलिहारी ! घर में खाने को एक दाना भी नहीं, और चले हैं खेल-तमाशे देखने । मेरे घर में वृद्ध माता-पिता हैं, स्त्री है, बाल-बच्चे हैं । उन का पालन-पोषण करना मेरा प्रथम धर्म है । खेल तो होते ही रहते हैं ।

( जाता है )

पटपरिवर्तन

---

## दूसरा दृश्य

स्थान—(रंग-भूमि का बड़ा भारी मैदान, उस के एक कोने में सभामंडप, सभामंडप में उच्च सिंहासन के आस पास बैठने के आसन, पीछे कुछ ऊँचाई पर राजघराने की स्त्रियों के लिये प्रेक्षागार, रंगभूमि में दर्शकों का भारी जमाव।)

सब से पहले आचार्य द्रोण, अपने पुत्र अश्वत्थामा जी के साथ प्रवेश करते हैं।)

एक दर्शक—( पास वाले दर्शक से ) भाई ये कौन हैं ?

दूसरा दर्शक—तुम इन्हें भी नहीं पहचानते ? ये ही तो आचार्य द्रोण हैं। इन के साथ दूसरे व्यक्ति इन्हीं के सुपुत्र अश्वत्थामा जी हैं।

तीसरा दर्शक—इतने वृद्ध हैं, तो भी इन का मुखमण्डल सूर्य के समान दमक रहा है। चाल से मत्तमातंग को भी मात कर रहे हैं। मस्तक पर तिलक, मुख पर श्वेत और लम्बी श्मश्रु, गज के भुजदण्ड के समान आजानु-लम्बी भुजायें और उन पर पहने हुए भुजत्राण, हाथ में धनुष और कंधे पर शरों से भरा तूणीर, ये सब इन की शोभा को द्विगुणित कर रहे हैं।

देवदत्त—हम लोग यहीं खड़े तर्क-वितर्क कर रहे हैं और उधर खेल आरम्भ होने को है।

धर्मदेव—मालूम तो ऐसा ही होता है। बाजों की आवाज शायद रंग-भूमि से ही आ रही है।

देवदत्त—तो अब चलना चाहिए।

सब—हाँ हाँ! चलें, बहुत भीड़ लग गई, तो फिर खड़े होने को भी स्थान न मिलेगा।

यज्ञदत्त—तुम लोग चलो, मैं भी घर से होकर आता हूँ।

धर्मदेव—फिर वही बात!

देवदत्त—अरे जाने दो इस सड़ियल आदमी को, रात-दिन काम-धन्धे में ही फँसा रहता है।

धर्मदेव—फँसा रहा करे, हमें क्या! हम तो न कुछ लेकर आये हैं और न कुछ लेकर जायेंगे। जो दिन आनन्द से कट जायें, वे ही अच्छे।

( देवदत्त, शान्तिदेव और धर्मदेव जाते हैं )

यज्ञदत्त—इन लोगों की बुद्धि पर बलिहारी! घर में खाने को एक दाना भी नहीं, और चले हैं खेल-तमाशे देखने। मेरे घर में वृद्ध माता-पिता हैं, स्त्री है, बाल-बच्चे हैं। उन का पालन-पोषण करना मेरा प्रथम धर्म है। खेल तो होते ही रहते हैं।

( जाता है )

पटपरिवर्तन

---

## दूसरा दृश्य

स्थान—(रंग-भूमि का बड़ा भारी मैदान, उस के एक कोने में सभामंडप, सभामंडप में उच्च सिंहासन के आस पास बैठने के आसन, पीछे कुछ ऊँचाई पर राजघराने की स्त्रियों के लिये प्रेक्षागार, रंगभूमि में दर्शकों का भारी जमाव।)

सब से पहले आचार्य द्रोण, अपने पुत्र अश्वत्थामा जी के साथ प्रवेश करते हैं।)

एक दर्शक—( पास वाले दर्शक से ) भाई ये कौन हैं ?

दूसरा दर्शक—तुम इन्हें भी नहीं पहचानते ? ये ही तो आचार्य द्रोण हैं। इन के साथ दूसरे व्यक्ति इन्हीं के सुपुत्र अश्वत्थामा जी हैं।

तीसरा दर्शक—इतने वृद्ध हैं, तो भी इन का मुखमण्डल सूर्य के समान दमक रहा है। चाल से मत्तमातंग को भी मात कर रहे हैं। मस्तक पर तिलक, मुख पर श्वेत और लम्बी श्मश्रु, गज के भुजदण्ड के समान आजानु-लम्बी भुजायें और उन पर पहने हुए भुजत्राण, हाथ में धनुप और कंधे पर शरों से भरा तूणीर, ये सब इन की शोभा को द्विगुणित कर रहे हैं।

चौथा दर्शक—इन्हें देख कर इस समय ऐसा भान हो रहा है—जैसे ब्राह्म और क्षात्र तेजों ने मिल कर एक अपूर्व ज्योति उत्पन्न कर दी है। सात्विक और राजस गुणों का विचित्र सम्मिश्रण हुआ है।

( आचार्य एक ऊँचे मंच पर खड़े होते हैं )

कुछ दर्शक—अरे भाइयो! कुछ सुनने भी दोगे? आचार्य कुछ कहने लगे हैं।

आचार्य द्रोण—पुरवासियो, आज का दिन आप लोगों के लिये अत्यन्त शुभ दिन है। आज के दिन राजकुमार—आप के भावी शासक अपनी अस्त्र-विद्या समाप्त कर आप के सामने उस में परीक्षा देंगे। राजकुमारों की शिक्षा मेरे अधिकार में हुई है। इस का मुझे गर्व है। जैसी शिक्षा उन्होंने ग्रहण की है, वह उन्हीं के वंश के अनुरूप है। उसी की परीक्षा वे आज देंगे! आप लोग उन के करतब देखें और पक्षपात रहित जाँच करें।

सब लोग—आचार्य द्रोण की जय! राजकुमारों की जय!

(पालकियों में बैठी हुई राजकुलाङ्गनायें आती हैं। उन्हें प्रेक्षागार के पास रखा दिया जाता है। सब स्त्रियाँ पालकियों से निकल कर प्रेक्षागार में आ बैठती हैं।)

गान्धारी—( आँखों पर पट्टी बाँधे हुए ) बहिन कुन्ती, बहुत लम्बी

प्रतीक्षा के बाद आज का दिन आया है। आज हमारे स्तनन्धय बच्चों ने युवावस्था में पाँव धरा है। सिंहशावकों से वनराज केसरी बने हैं। आज यह देखना होगा कि उन में शत्रु दल को दलन करने और आर्तों के रक्षण की कितनी क्षमता है। वर्षों के प्रतीक्षण के बाद क्षत्रियों के भाग्य में यह दिवस देखने को मिलता है। पर (कुछ चिन्ता से) मेरे चित्त में एक काँटा सदा चुभता रहता है, उसे कई बार निकालने का यत्न किया, पर ज्यों-ज्यों यत्न किया, त्यों-त्यों वह और भी धँसता गया।

कुन्ती—वह कौनसी ऐसी बात है बड़ी दीदी?

गांधारी—कहीं यह अस्त्र-शिक्षा भाई-भाई में ईर्ष्या और वैमनस्य के बीज न बो दे। मैं कई दिनों से देख रही हूँ कि कौरव और पांडवों में से भ्रातृभाव के भाव विलीन होते जा रहे हैं। मेरा बेटा, (लम्बी साँस लेकर) मेरा बेटा दुर्योधन तुम्हारे सब बेटों से, विशेषतः अर्जुन से डाह करने लग गया है। उस की देखा-देखी उस के दूसरे भाइयों में भी वैसे ही कुसंस्कार जागृत हो रहे हैं। मैं ईश्वर से सदा यही प्रार्थना करती रहती हूँ कि वे मेरे बेटों—कौरवों और पांडवों को सुमार्ग पर लायें। भाई-भाई का ईर्ष्यानल सारे कुल को भस्म कर देता है बहिन!

कुन्ती—ऐसा विचार मन में न लाओ, बड़ी दीदी। कुमार अभी बालक हैं, बड़े होने पर सँभल जायेंगे। घर के दो बरतन भी आपस में टकरा जाते हैं, फिर ये तो मनुष्य हैं। महाराज की देख-रेख में समय आने पर सँभल जायँगे।

गांधारी—इस का बहुत कुछ उत्तरदायित्व भी तो इन्हीं पर है। इन के कान सुनते हैं, पर आँखें नहीं देखतीं। देखने और सुनने में बहुत बड़ा अंतर है। बचपन से ही दुर्योधन का स्वभाव बहुत कुटिल रहा है। बातों बातों में ऐसा मकड़ी का सा जाल फैलाता है कि ये उसमें फँस जाते हैं और उसकी बात को टाल ही नहीं सकते।

कुन्ती—मैं एक बात कहती हूँ—बुरा न मानना। भाई शकुनि का व्यवहार मुझे देर से खटकता है। वे सदा दुर्योधन के ईर्ष्यानल को भड़काते रहते हैं—बातों-बातों में उस में मानों घी डालते रहते हैं।

गांधारी—इसमें कोई संदेह नहीं। मैं भी यही बात देर से देख रही हूँ। एक दो बार भाई को समझाया भी है, पर वह ऐसी बेसिर-पैर की बातें करता है कि कुछ समझ में नहीं आता। अब तो ईश्वर ही कुरुवंश का रक्षक है!

कुन्ती—बड़ी दीदी, अब ये बातें रहने दो। यह समय विषाद का नहीं, हर्ष का है। लो राज्य के मंत्रिगण, विदुर जी तथा दूसरे राजवंशी लोग आ रहे हैं।

( राज मन्त्री, श्री व्यास जी, विदुर जी, भीष्मपितामह, कृपाचार्य और दूसरे राजवंशी लोग आकर अपने-अपने आसनों पर बैठ जाते हैं )

( दर्शकों में कोलाहल होने लगता है )

कुछ दर्शक—हटो हटो, रास्ता छोड़ो।

कुछ और दर्शक—अरे अन्धे हो! देखते नहीं किन की सवारी आ रही है?

एक दर्शक—तुम लोग क्यों गला फाड़-फाड़ कर चिल्ला रहे हो? हम सब कुछ देख रहे हैं। महाराज ही तो आ रहे हैं। हमारे महाराज हैं—हम उन के दर्शन भी न करें?

( कुछ सिपाही आते हैं। उन के पीछे एक पालकी आती है। उस में महाराज धृतराष्ट्र सोने की चौकी पर बैठे हैं, उन के पीछे सुवर्ण-छत्र को थामे एक मनुष्य खड़ा है, दूसरा उस पर चमर झुला रहा है। उन के आते ही नरसिंहे बजने लगते हैं। चारों ओर शोर मचने लगता है।

सब लोग—( एक स्वर से ) कुरुकुलावतंस महाराज धृतराष्ट्र की जय! ( कुछ समय तक 'जय' 'जय' के नारे सुनाई देते हैं। )

धृतराष्ट्र—( विदुर से ) विदुर जी, आचार्य से विनय कीजिये कि परीक्षाकार्य आरम्भ करें।

विदुर—बहुत अच्छा। ( द्रोण से ) आचार्य, महाराज की आज्ञा

है कि कुमारों को बुला कर कार्यक्रम शुरू हो।

द्रोण—बहुत अच्छा—

( आचार्य बाजे वालों को संकेत करते हैं। बाजे बजने लगते हैं।
पहले युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव पाँचों
पांडव और फिर दुर्योधन और उस के सब भाई
रंगभूमि में आते हैं। सब कुमारों की उँगलियों
पर अंगुलित्र हैं। उन की कमरों में रत्न-
जटित स्वर्ण के पटे बँधे हैं।
उन की पीठों पर तरकस और
हाथों में धनुष हैं। )

एक दर्शक—मनुष्य-कुमार हैं कि देव-पुत्र हैं ?

दूसरा दर्शक—कुमार युधिष्ठिर का भाल कैसे चमक रहा
भाग्य यहीं पर लिखा मालूम होता है कि यही ह
महाराज होंगे। इन में सम्राट् होने के सब लक्षण दि
देते हैं।

तीसरा दर्शक—तब न सम्राट् होंगे, जब दुर्योधन होने देंगे !

चौथा दर्शक—दुर्योधन की क्या मजाल कि बाधा डाले ! भीम
अर्जुन के रहते दुर्योधन की दाल न गलेगी।

पाँचवाँ दर्शक—अरे मित्र, ज़रा भीम की ओर भी देखो।
मत्त मातंग की सी चाल है इस की !

छठा दर्शक—अजी रहने दो मत्तमातंगी चाल। देखो वनराज केसरी दुर्योधन आ रहा है।

सातवाँ दर्शक—अर्जुन को तो तुम लोगों ने देखा ही नहीं। धनुप तो उसी के हाथ में सोहता है, मानो उस पर उसी का स्वत्व है।

एक और दर्शक—अरे भाइयो, छोड़ो इस वाद-विवाद को। तुम्हारे मत्त-मातंग और वनराज केसरी, धनुप और गदा अभी तुम्हारे सामने आ जायेंगी। व्यर्थ झगड़ा क्यों करते हो?

एक दर्शक—क्यों न झगड़ा करें? हम सब पुण्यात्मा पांडव-कुमारों की जय चाहते हैं। धर्म उन की ओर है—
(यतो धर्मस्ततो जयः।)

दूसरा दर्शक—तुम्हारे कहने से दुर्योधन और उसके भाइयों का क्या बनता-बिगड़ता है! अभी मैदान में दूध का दूध और पानी का पानी होगा! सौ के साथ पाँचों का क्या मुक़ाबला?

(दोनों दलों के लोग आपस में लड़ने लगते हैं, रक्षापुरुप आकर उन्हें शान्त करते हैं।)

द्रोणाचार्य—(दर्शकों के प्रति) सब कुमार आप के सामने परीक्षा देने को उपस्थित हैं। आप लोग ध्यान से उन के करतबों को देखें।

(लोगों में फिर शोर होने लगता है)

एक दर्शक—ओ वे लाल दुपट्टे वाले ! भाई तनिक बैठ जाओ, ज़रा हमें भी कुछ देखने दो।

वह दर्शक—देखने को इतने उत्सुक थे, तो पहले क्यों नहीं आ गये ? मैं सूर्योदय से पहले यहाँ खड़ा हूँ। मैं न बैठूँगा।

(दूसरी ओर फिर शोर)

कुछ दर्शक—बैठ जाइये, बैठ जाइये, आगे खड़े हुए लोग यदि बैठ जायँ, तो सब आराम से देखेंगे।

(रक्षापुरुष आकर लोगों को शान्त करते हैं और खड़े हुओं को बैठाते हैं)

द्रोणाचार्य—कुमार युधिष्ठिर आप के सामने भाला चलाने में चातुरी दिखायेंगे।

(अश्वारूढ़ युधिष्ठिर मैदान में आते हैं और घोड़ा दौड़ा कर भूमि में गड़ी हुई एक कीली को भाले की नोक से उखाड़ ले जाते हैं)

सब लोग—(एक स्वर से) वाह वाह ! भाला अपने निशाने पर कैसे ठीक बैठा है !

एक दर्शक—इसी को कहते हैं भाला चलाना !

दूसरा दर्शक—आचार्य के सिखाये हैं भाई।

तीसरा दर्शक—अभी आगे देखना और क्या क्या होता है।

(युधिष्ठिर तलवार से—ऊपर से गिरती हुई नारंगी के अधर में ही दो टुकड़े कर देते हैं।)

( जनता में करतलध्वनि। युधिष्ठिर का प्रस्थान। )

( एक ओर से भीम और दूसरी ओर से दुर्योधन गदा लिये आते हैं और गदा युद्ध करते हैं।)

भीम—( ललकार कर ) दुर्योधन ! हम में से किस को गदा चलाना अधिक आता है—इसका निर्णय आज हो जायगा।

दुर्योधन—हाँ, अवश्य हो जायगा और सदा के लिये हो जायगा। अभी एक ही प्रहार से तुम्हारा काम तमाम किये देता हूँ।

भीम—आज तुम्हारे ही हृदयरक्त से तुम्हारा ईर्ष्यानल शान्त करता हूँ।

(दोनों ज़ोर से प्रहार करते हैं—प्रहारों से उनके कंचुकों से आग की चिनगारियाँ निकलती हैं। एक-एक प्रहार पर लोग 'वाह वाह' करते हैं और करतलध्वनि करते हैं।)

एक दर्शक—ऐसा मालूम होता है कि दो मातंग भिड़ रहे हैं।

दूसरा दर्शक—अरे मातंग क्या, मुझे तो पहाड़ टकराते दिखाई देते हैं।

तीसरा दर्शक—दोनों की चिनगारियों के समान जलती हुई आँखों को देख कर डर सा लग रहा है। ये परीक्षा दे रहे हैं या शत्रुवत् युद्ध कर रहे हैं ?

( भीम के प्रहार करने पर भीम के पक्षपाती दर्शक 'वाह वाह' की ध्वनि करते हैं और दुर्योधन के प्रहार करने पर उस के पक्षपाती वैसे ही शोर करते हैं। )

चौथा दर्शक—अरे भाई, छोड़ो और बातों को। विधाता ने इन दोनों की एक ही जोड़ी बनाई है, कोई किसी से कम नहीं दिखाई देता।

पाँचवाँ दर्शक—मैंने कहा न था कि भीम का मुक़ाबला दुर्योधन ही कर सकता है ?

( वे दोनों आवेश के साथ एक-दूसरे की जान लेने पर उतर आते हैं )

द्रोणाचार्य—( उच्च स्वर से ) अरे भीम बेटा ! अरे कुमार दुर्योधन ! युद्ध मत करो, केवल गदा-प्रहार में चातुरी दिखाओ। यह परीक्षाकाल है, युद्ध-काल नहीं।

(फिर भी दोनों नहीं रुकते)

धृतराष्ट्र—( विदुर से ) विदुर जी, लोगों में इतना शोर क्यों हो रहा है ? कृपया हरेक घटना मुझे बताते जाओ।

विदुर—महाराज, भीम और दुर्योधन गदा-युद्ध में चातुरी दिखा रहे हैं।

गांधारी—( कुन्ती से ) बहिन, इस समय लोगों में अपूर्व जोश क्यों हो रहा है ? आँखों पर पट्टी रहने के कारण मैं स्वयं नहीं देख सकती, तनिक यहाँ का हाल मुझे सुनाती जाओ।

कुन्ती—बड़ी दीदी, आज का दृश्य देखने योग्य है, इसका ठीक ठीक वर्णन जिह्वा से नहीं हो सकता। पर मैं कैसे कहूँ कि आप आँख की पट्टी खोल दें! पति के नयनहीन होने पर अपनी आँखों पर भी सदा के लिए पट्टी बाँध कर आप ने नारीत्व को बहुत ऊँचा पद दे दिया है, पतिव्रता धर्म को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया, है। बहिन, मैं अवश्य सब घटनाओं का वर्णन करती जाऊँगी। इस समय भीम और दुर्योधन गदायुद्ध कर रहे हैं।

धृतराष्ट्र—( विदुर से ) विदुर जी, आचार्य से कहिये कि इनका युद्ध बंद कर दें, मैं दोनों की प्रकृति को जानता हूँ। गदाचालन-चातुरी दिखाते-दिखाते ये वास्तविक युद्ध करने लग जायेंगे।

( विदुर जी आचार्य को संकेत करते हैं )

द्रोणाचार्य—( कृपाचार्य से ) कृप! आप ही जाकर इनका युद्ध बंद कर दो। केवल कहने से ये न मानेंगे।

( कृपाचार्य जाकर उनके बीच में खड़े हो जाते हैं और युद्ध बंद कर देते हैं। भीम और दुर्योधन क्रोध से एक दूसरे को देखते हैं।)

दुर्योधन—फिर सही।

भीम—वह 'फिर' भी शीघ्र आ जायगा।

( भीम के पक्षपाती 'भीमसेन की जय' और दुर्योधन के
पक्षपाती 'दुर्योधन की जय' के नारे लगाते हैं।
आचार्य संकेत से बाजे बजना बंद करते हैं )

आचार्य—( रंगभूमि के मध्य में खड़े होकर ) दर्शकगण, अब पाण्डु कुमार अर्जुन आयेगा। आप अर्जुन की धनुर्विद्याचातुरी देखकर चकित् हो जायेंगे। कुमार अर्जुन पर मुझे गर्व है। यह मुझे अपने पुत्र अश्वत्थामा से भी बढ़ कर प्यारा है।

( अर्जुन का प्रवेश। उसकी देह पर सुवर्णमय कवच, हाथ
की उँगलियों पर गोहचर्म के अंगुलित्र, कंधे पर
तीरों से भरा तरकश और हाथ में धनुष है। )

( उसके आने पर दर्शक करतलध्वनि करते हैं। शंख और
नरसिंहे बजते हैं। लोग उठ कर अर्जुन को देखते हैं
और 'कुमार अर्जुन की जय' के नारे लगाते हैं। )

धृतराष्ट्र—( विदुर से ) विदुर जी, दर्शकमंडली में आकाश को भी विदीर्ण करने वाला, कोलाहल क्यों हो रहा है? ऐसा प्रतीत होता है, मानों अगाधतल समुद्र उमड़ उठा है।

विदुर—राजन्, कुन्तीपुत्र, पाण्डुनन्दन अर्जुन ने रंगभूमि में प्रवेश किया है।

धृतराष्ट्र—महामना विदुर जी, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन मनुष्य नहीं देवपुत्र हैं। कुन्तीरूपी यज्ञकाष्ठ से मानों तीन अग्नियाँ उत्पन्न हुई हैं।

( शकुनि का प्रवेश )

शकुनि—महाराज, इन अग्नियों में घृत की आहुतियाँ डालते जाओगे, तो वे और प्रचंड होकर कौरव-वन को भस्म कर देंगी।

धृतराष्ट्र—यह क्या कह रहे हो, शकुनि ?

शकुनि—मेरे कहने का यह आशय है महाराज, कि पांडवों का भरण-पोषण करना साँपों को दूध पिलाना है।

गांधारी—( कुन्ती से ) यह कैसा कोलाहल है बहिन ?

कुन्ती—आपका सेवक अर्जुन रंगभूमि में आया है।

गांधारी—धन्य हो बहिन, जिस की कोख ने अर्जुन जैसे वीरात्मा को जन्म दिया है। एक बात मैं कहती हूँ। तुम क्रोध न करना। न मालूम अर्जुन का नाम सुनते ही मेरी नाड़ी-नाड़ी में क्यों भय-संचार हो जाता है। ऐसा भान होता है कि वह मेरा वैरी है—जन्म-जन्मांतरों का वैरी है, मेरे वंश का ध्वंसक है।

कुन्ती—छोड़ो यह बातें, बड़ी दीदी। शायद इन बालकों के परस्पर के लड़ाई-झगड़ों को सुन-सुन कर आप के ऐसे विचार हो गये हैं। जैसे मैं आप की दासी हूँ, वैसे मेरे पुत्र भी आप के दास हैं।

( अर्जुन धनुष पर तीर चढ़ा कर उसे छोड़ता है। आकाश से अग्नि बरसने लगती है। )

कुछ लोग—अरे बचाओ ! बचाओ ! यह अग्नि हमें अभी भस्म कर देगी ।

कुछ और लोग—( भागते-भागते ) अब प्रलय में कुछ देर नहीं । यह अग्नि समस्त संसार को भस्म कर देगी ।

पहला दर्शक—( रोता हुआ ) यदि मेरे वस्त्र जल गये, तो पहनूँगा क्या ?

दूसरा दर्शक—अरे तुझे वस्त्रों की पड़ी है । वस्त्रों की आवश्यकता ही न रहेगी । वस्त्रों के साथ तुम्हारा शरीर भी भस्म हो जायगा ।

आचार्य—( उच्च स्वर से ) अर्जुन बेटा, आग्नेय बाण का संहार करो । लोग घबरा रहे हैं ।

( अर्जुन एक दूसरा बाण छोड़ता है । आकाश से जल-वर्षा होने लगती है । सब लोग प्रसन्न होते हैं )

एक मनुष्य—( दूसरे से ) लो भाई, देवराज इन्द्र ने हमें बचा लिया, नहीं तो मृत्यु-कुण्ड के किनारे ही खड़े थे ।

दूसरा मनुष्य—तुम भी निरे मूर्ख हो ! क्या तुम्हें अब भी नहीं पता लगा ? यह कुमार अर्जुन की धनुर्विद्या के करतब थे ।

तीसरा मनुष्य—यह भी कोई खेल है ! यदि हम जल जाते तो ?

अर्जुन एक और तीर छोड़ता है, सर्वत्र अन्धकार छा जाता है । )

कुछ दर्शक—आज तो पता ही नहीं लगा और संध्या हो गई है।

कुछ और—मन एकत्र लगा हो, तो समय की गति तीव्र हो जाती है। अभी चलना ही ठीक होगा, आठ कोस का मार्ग भी तो रातों-रात तय करना होगा।

( अर्जुन एक और तीर चलाता है, पहले से भी अधिक प्रकाश हो जाता है )

दो दर्शक—( आपस में ) बात की बात में अंधकार छू-मन्तर हो गया है ! दोपहर तो कब की ढल चुकी है, पर इस समय वह पूरे ज़ोर पर नज़र आती है।

एक मनुष्य—अरे ! न तब संध्या थी और न अब दोपहर है। समय वही है जो पहले था। यह अँधेरा और उजाला भी धनुर्विद्या के प्रताप से हैं।

( अर्जुन तीरों से कभी लोगों को सुलाता है, फिर जगाता है, कभी सर्प निकालता है, पश्चात् सर्पभक्षी पक्षी उत्पन्न कर उनका संहार करता है। प्रत्येक घटना के बाद 'वीर अर्जुन की जय' 'पांडुनन्दन अर्जुन की जय' 'धनुर्धर अर्जुन की जय' के नारों से आकाश गूँज उठता है )

( कुछ रक्षापुरुष रंगभूमि में एक गाय लाते हैं, उस के दोनों सींगों पर

दो नारंगियाँ बाँधते हैं, फिर गाय को एक चक्कर में दौड़ाते हैं। अर्जुन तीर को लेकर खड़ा होता है। दर्शकों में शोर मचता है।)

कुछ लोग—अर्जुन ! अर्जुन !! ऐसा न करो। तीर गाय को लग गया, तो इस बेचारी के प्राण निकल जायेंगे।

कुछ और लोग—और तुम्हें गो-हत्या का पाप होगा।

कुछ लोग—हम ऐसा न करने देंगे। जान दे देंगे, पर गो-हत्या न होने देंगे।

कुछ और लोग—गौ हमारी माता है—माता से भी पूज्यतर है। जीते जी हम इस की हत्या न होने देंगे।

द्रोणाचार्य—( उच्च स्वर से ) दर्शकगण, आप लोग समझते हैं कि अर्जुन गो-वध कर रहा है ? तुम्हारा यह भ्रम है। जिस वंश ने अर्जुन को जन्म दिया है—उस के पुरखाओं ने गौ की रक्षा के लिये प्राण तक न्यौछावर कर दिये हैं। अर्जुन उन्हीं का वंशधर है। आप शान्त होकर अर्जुन की यह चातुरी देखें। उसे देखकर आप चकित हो जायेंगे।

कुछ लोग—( ऊँचे स्वर से ) अब तो शोर बन्द करो। आचार्य के वचनों पर भी विश्वास नहीं ?

(शान्ति हो जाती है। गाय ज़ोर से चक्कर में भागती है, अर्जुन तीर छोड़ कर दोनों नारंगियों को एकदम काट देता है। लोग तालियाँ बजाते हैं )

लोग—धन्य हो अर्जुन धन्य हो ! यह वीरता की पराकाष्ठा है।

( एक कोने में कुछ हलचल होती है। 'लोगो, ठहरो-ठहरो, जाओ नहीं' की आवाज़ उठती है। भीड़ को चीरता हुआ कर्ण रंगभूमि में आता है। उस के एक हाथ में धनुष, दूसरे में तलवार, कानों में जन्मजात कुंडल और देह पर कवच है। )

कुछ लोग—( विस्मित होकर ) मनुष्य क्या है, पर्वतराज सुमेरु चला आता है !

एक दर्शक—इस के मुख की कान्ति अग्नितप्त सुवर्ण के समान है।

दूसरा दर्शक—इस में बल इतना है कि चलने से धरती काँप रही है।

तीसरा दर्शक—यह कौन है ?

कुछ लोग—अरे भाई, सुनो। यह कुछ कह रहा है।

कर्ण—( द्रोणाचार्य और कृपाचार्य को प्रणाम कर ) अर्जुन, तूने बाण चलाने के जो करतब यहाँ दिखाये हैं, मैं भी उन सब को दिखाऊँगा—उस से भी अधिक चमत्कारी करतब दिखाकर तेरे गर्व को चूर्ण करूँगा।

द्रोण—कर्ण ! तुम भी अपनी अस्त्रचालन चातुरी का परिचय दे सकते हो। यह विद्या न अर्जुन की थाती है और न किसी और की, विद्या अभ्यासी की होती है।

(कर्ण एक-एक कर के वे सब काम कर दिखाता है, जो अर्जुन ने किये थे। लोगों में बहुत जोश हो जाता है। उस के प्रत्येक काम पर करतल-ध्वनि करते हैं। )

दुर्योधन—( उठ कर और आवेश से ) जीते रहो कर्ण, आज तुम ने निराशा-समुद्र में डूबते हुए मुझ को हाथ पकड़ कर निकाला है। ( उस के पास जाकर ) कर्ण, आज तुम मेरे अभिन्न हृदय मित्र हो। मैं अपने आप ही अग्नि में जल रहा था—तू ने आज उसे शान्त किया है। हम दोनों का ध्येय एक है—अर्जुन-विध्वंस। दो होते हुए भी हम आज से एक हुए।

कर्ण—( दुर्योधन के कन्धे पर हाथ रख कर ) कुरु कुमार, आपने मुझ पर जो विश्वास किया है, वह आजन्म मेरे पास धरोहर रहेगा। कर्ण प्राण दे देगा, पर विश्वासघात न करेगा।

( दुर्योधन कर्ण के हाथ पकड़ कर उसे गले से लगाता है )

( अर्जुन से ) अर्जुन, तुम्हारी कीर्ति मुझे यहाँ लाई है। मैं तुम्हारे साथ द्वन्द्वयुद्ध, करवालयुद्ध या बाणयुद्ध के लिये आया हूँ। इन में से जैसा युद्ध चाहो, स्वीकार कर लो। मैं तैयार हूँ।

अर्जुन—कर्ण जो लोग बिना बुलाये आते हैं और इस प्रकार की गर्वभरी बातें करते हैं, वे कुत्सित लोग होते हैं।

कर्ण—अर्जुन, यह रंग-भूमि और आज का उत्सव सर्वसाधारण के लिए है। इस पर किसी एक व्यक्ति का स्वत्व नहीं है। वीर बल को श्रेष्ठ मानते हैं। वे हर जगह और हर समय

ललकार का उत्तर ललकार से देने को उद्यत् रहते हैं। दुर्बलों की तरह इन आक्षेप की बातों का क्या प्रयोजन! बाणों से उत्तर दो। यदि भुजाओं में बल हो, तो तवलार थामो और रंगभूमि में उतरो।

*अर्जुन*—यदि तुम्हें अपनी जान भारभूत है, तो उतरो अखाड़े में। मैं अभी तलवार के एक ही हाथ से तुम्हें यम-सदन भेजता हूँ।

कर्ण—( तलवार लेकर ) मैं तैयार खड़ा हूँ।

( स्त्रियों के प्रेक्षागार में कोलाहल )

लोग—वहाँ शोर कैसा है?

कुछ लोग—( उधर से आते हुए ) कुन्ती माता बेहोश हो गई थीं, पर अब अच्छी हैं।

एक पुरुष—स्त्री ही तो हैं। स्त्रियों का हृदय ऐसे कठोर आघातों को नहीं सहन कर सकता। उन्हें घर क्यों नहीं ले गये?

दूसरा पुरुष—अबे तू भी कैसी बेतुकी हाँक रहा है! माता कुन्ती शूर-पत्नी और शूर-माता हैं। इन का जन्म वीर वंश में हुआ है। ऐसे दृश्य उन्हें कैसे भयभीत कर सकते हैं? कुछ बीमारी-सीमारी होगी, जिस से हृदय शिथिल हो गया होगा।

कृपाचार्य—( उन दोनों के बीच में आकर, कर्ण से ) वीरवर ! तुम धन्य हो, जो ऐसी वीरता की बातें कर रहे हो । पर तुम जानते हो कि अर्जुन क्षत्रियवंशी है, कुरुकुल जैसे उच्च वंश में उत्पन्न हुआ है । इस का युद्ध उसी से हो सकता है, जो इसी तरह का उच्चवंशज हो । इसलिए तुम भी अपनी माता का नाम बताओ ।

( कृपाचार्य का वचन सुनते ही कर्ण के मुख का वर्ण उड़ गया, उस के हाथ से तलवार गिरने लगी । )

दुर्योधन—(आगे बढ़ कर) सच्चे योद्धा प्रतिपक्षी के कुल की परवाह नहीं करते । उन्हें मृत्यु का कभी भय नहीं होता । अर्जुन यदि सच्चा और वीर क्षत्रिय है, तो उसे कर्ण से युद्ध करने में हिचकिचाना न चाहिए ।

कृपाचार्य—पर कर्ण को अपने माता पिता का नाम और जाति बताने में क्यों संकोच है ? वह अवश्य किसी नीच जाति का होगा । मैं अर्जुन को नीच कुलोत्पन्न से युद्ध न करने दूँगा ।

दुर्योधन—यदि अर्जुन को किसी राजा से ही युद्ध करना अभिप्रेत है, तो मैं अभी कर्ण को अंगदेश का राज्य देता हूँ ।

(एक मुकुट मँगवा कर कर्ण के सिर पर रखता है और माथे पर तिलक लगाता है । चारों ओर से 'अंगराज कर्ण की जय' के नारे होते हैं । )

( सहसा अधिरथ का प्रवेश। वह बहुत घबराया हुआ है।
उस का शरीर पसीने से तर है। भागता कर्ण के
पास जाता है। कर्ण उस के चरण
छूता है। )

अधिरथ—बेटा, तुम यहाँ हो ? मैंने इस वन का कोना-कोना छान डाला, जब तुझे कहीं न पाया, तो भागता यहाँ आया हूँ। अब जी में जी आया है। तुम्हारी माता न जाने किस दशा में होगी ! बेचारी के प्राण निकल रहे होंगे। चलो बेटा, चलें।

एक दर्शक—अरे ! यह तो सारथि अधिरथ है।

दूसरा—वही तो ! इस की स्त्री का नाम राधा है।

तीसरा—तब तो यह कर्ण सूत-पुत्र है।

चौथा—कर्ण सूत पुत्र...

पाँचवाँ—कर्ण सारथि पुत्र...

छठा—कर्ण सूत पुत्र......

( कुछ ही देर में कर्ण के सूत पुत्र होने का समाचार रंगभूमि
में सर्वत्र फैल जाता है और सब के मुख से दबे स्वर
में—कर्ण सूत पुत्र, कर्ण सूत पुत्र—
यह आवाज़ें निकलती हैं। )

भीम—(व्यंग्य की हँसी हँसता हुआ) आख़िर को भाँडा फूट ही गया।

(कर्ण से) सूत पुत्र, तुम अर्जुन के हाथ से मरने के भी योग्य नहीं हो। तुम्हारा वंशक्रमागत काम है रथ हाँकना, घोड़ों की रास पकड़ना। उसी काम को करो। जैसे कुत्ता यज्ञहवि का आस्वादन नहीं कर सकता, वैसे ही तुम अंगराज्य का उपभोग करने के अयोग्य हो।

कर्ण—भीम, लोकाचार से डर रहा हूँ, नहीं तो अभी इस तलवार से तेरी गर्दन उड़ा दूँ।

भीम—और मैं तेरा वध इसलिये नहीं करता कि शूद्र को छूने से प्रायश्चित् करना पड़ेगा।

दुर्योधन—भीम, तुम्हारे मुख में ऐसे कायरों के वचन नहीं सोहते। तुम्हारी ये चालें अपने भाई अर्जुन को बचाने का एक ढंग है। क्षत्रियों में सदा बल का ही आदर होता चला आया है। शूरों और नदियों के उद्गम-स्थान को कोई नहीं पूछता। दानवकुल को नष्ट करने वाले वज्र का जन्म दधीचि की हड्डियों से हुआ है। कुमार कार्तिकेय के माता-पिता का कोई ठिकाना नहीं है। उसे कोई अग्नि का, कोई कृत्तिका का और कोई गंगा का पुत्र बताते हैं। विश्वामित्र जन्म के क्षत्रिय होकर भी ब्राह्मणों में उत्तम माने जाते हैं, और महर्षि पद पर पहुँच गये हैं। कर्ण की ओर तनिक देखो। ऐसा तेजस्वी मुखमण्डल, जन्मजात

सुवर्ण के कुण्डल और कवच कभी किसी नीच जाति के जाये के हो सकते हैं ? शृगाली शृगाल को उत्पन्न करेगी और सिंहनी सिंह को। सिंह शृगाली का आत्मज नहीं हो सकता। कर्ण किसी वंश का भी हो, मेरा हार्दिक मित्र है। हम दोनों एक हैं, अभिन्न हैं। अंगराज्य क्या समस्त भूमण्डल का राज्य भी इस के चरणों में अर्पण कर सकता हूँ।

( दुर्योधन की बात सुनकर दर्शकों में कोलाहल होने लगता है। )

एक दर्शक—बात तो पते की कही है। ( गुणानर्चन्ति जन्तूनां न जातिं केवलां क्वचित् ) आदर गुणों का होता है, जाति का सम्बन्ध तो केवल जन्म से होता है।

दूसरा दर्शक—वास्तव में बात भी यही ठीक है। भीमसेन के कहने का तो यह अभिप्राय हुआ कि कोई कभी उन्नति कर ही नहीं सकता। जन्म का जो ठप्पा माथे पर लग गया, वह कभी मिटता ही नहीं। कैसी निर्मूल कल्पना है !

तीसरा दर्शक—मैं एक बात कहता हूँ भैया। यह विवाद यहाँ समाप्त न होगा। इन की मुठभेड़ कहीं न कहीं अवश्य होगी। कर्ण मुझे लगन का पक्का मालूम होता है। अर्जुन और भीम के वचनों से उस के दिल पर गहरे घाव हुए होंगे। उन का प्रतिशोध वह अवश्य करेगा।

( संध्या हो जाती है । )

द्रोणाचार्य—प्रिय दर्शको, इस समय संध्या-समय हो गया है।
आज का उत्सव यहीं समाप्त होता है।

( सब लोग जाने लगते हैं । पाँचों पांडव मिल कर एक ओर जाते हैं। दुर्योधन कर्ण को रथ में बिठा कर दूसरी ओर ले जाता है। )

( पटाक्षेप )

---

# परिशिष्ट-विभाग

## अनुशीलनी-१

इन का अनुवाद और व्याख्या करें :—

पृष्ठ

१४. भगवन् मेरी ··· ···· बचा सकूँ ।

१६. क्यों मेवाड़ के साथ ··· ··· निवास किया था ।

१६. स्वतंत्र मेवाड़ की ··· ··· गिर जायगी ।

१८. मैंने तो सारी ···· ···· अभ्यास है ।

१६. पर वीरता के ··· ··· आवश्यंभावी होती है ।

,, किसी व्यक्ति ··· ···· प्रकट करने का ।

,, उस में वही दैवी ··· ···· वही उन में था ।

२०. आपने अपनी समस्त ··· ···· करनी चाहिए ।

२१. क्या उस स्वतन्त्रता ··· ··· न्यायसंगत होगा ।

२३. जिस मन्दिर में ··· ···· उड़ जाते देखा ।

२४. पर मनुष्य ··· ···· ढालना पड़ता है ।

३५. शृगालों की ··· ··· करने के लिए ।

,, वीरों के रक्त से ··· ··· बही हो ।

,, इसी पागलपन की ··· ··· आवश्यकता नहीं ।

३७. तुम्हारे वचनों में ···· ··· प्रकाश है ।

३६. भूमण्डल के ···· ··· न बन जाय ।

४०. बलिदान की मात्रा ··· ··· आदर होता है ।

४१. हिन्दुओं के धर्म ··· ··· होता है ।

४५. जीवित अवश्य ··· ··· रह जायगी ।

५०. एक और एक ··· ··· खड़ा हो।
५४. उन्हीं युद्धों के ··· ··· चोट से ही हो।
५६. उस के भाग्याकाश ··· ··· किया हुआ है।
६८. विद्रोहाग्नि को ··· ··· फैला देती है।
६९. यदि उपाय ··· ··· न करूँगा।
७०. अशोक आज ···बना दिया जाय।
७१. इसलिए यह ··· ··· न्यूनता नहीं होती।
८२. जब अन्त होने ··· ··· कर जाते हैं।
८५. यह कैसे हो सकता है ··· ··· वञ्चित् रह जाय।
,, रघुकुलावतंस ··· बनवास देना पड़ा।
८९. मैं पाटलिपुत्र का ··· ··· बढ़ती जा रही है।
९५. राज्यासन पर ··· ··· निकाल फैंका।
९६. राज्यासन शूलों का ··· ··· करनी चाहिए।
९८. यदि इस समय ··· ··· शेष रह जायें ?
१०४. कितना हृदयाह्लादक ··· ··· सम्राट् अशोक है।
१०७. तुम मानो या ··· ··· राज्य चाहिए।
,, जो बन्धन ··· ··· खुलवा दिया गया है।
११८. यदि मेरा कोई ··· ··· मिल जाते थे।
,, जहाँ तुम ने पहले ··· ··· खोज लाऊँगा।
१२२. जहाज़ फिर भी ··· ··· वह बहुत हैं।
१२४. जो आप मेरी दादी ··· ··· मारता है।
१२५. क्योंकि मित्रता ··· ··· कर सकती हैं।
१२९. मैं सुन चुका हूँ ··· ··· बाहर जा सकता हूँ।
१३०. लोगों का यह विचार ··· ··· आधा छोड़ दोगे।
१३१. कोई मनुष्य ··· ··· शोक करेंगे।
,, यदि महाराज उसको ··· ··· सिर पर।
१३३. इसको मार्ग पर ··· ··· यत्न करो।

१३६. गल्ले भर में·······गिरने दो।

१३६. पशुओं की आत्मा······घातक हिंसक है।

१४०. वह जलधारा की·······आशा नहीं कर सकता।

१४५. उस का यह नियम······छुटकारा दिये देती है।

१४६. मेरी एक स्त्री है······फेर देता।

१४७. मेरी बेटी का······स्त्री बने।

१५३. आर्य होने में······सूली पर पहुँचा देते।

१५४. मेरे चित्त में······घृणा है।

१५६. यदि आप की स्त्री······न ठान लेंगी।

१५६. परन्तु मुख से कहना······नहीं समझती।

१६१. इस समय इस से······अँगूठी भी गई।

१६४. मैंने एक बार····· वचन न तोड़ेंगे।

१७५. घर के······निमन्त्रण आयेगा।

१७७. गुरु गुड़ तो······ हो सकती है।

१७६. चाल से मत्त मातंग ····द्विगुणित कर रहे हैं।

१८०. इन्हें देखकर · सम्मिश्रण हुआ है।

१८१. आज हमारे स्तनंधय······कितनी चसता है।

१८२. बचपन से ही······नहीं सकते।

१८५. धनुष तो उसी के······स्वत्व है।

१६०. दर्शक मंडली में······समुद्र उमड़ पड़ा है।

,, कुन्तीरूपी यज्ञकाष्ठ······उत्पन्न हुई हैं।

१६३. मन एकत्र लगा······हो जाती है।

१६५. यह विधान······होती है।

२००. जैसे कुत्ता······अयोग्य हो।

,, शूरों और नदियों······हो सकते हैं।

२०१. जन्म का जो ठप्पा······कल्पना है।

## अनुशीलनी—२

१. मेवाड़ विध्वंस का कथानक अपने शब्दों में लिखो।
२. मेवाड़-विध्वंस में किस का चरित्र आप को सबसे अधिक ऊँचा है? तर्क और युक्ति सहित उत्तर दो।
३. गोविन्दसिंह, चारणी, राणा अमरसिंह, हिदायतखाँ, महावतखाँ—इन के चरित्र पर कुछ लिखो।
४. गोविन्दसिंह कौन था? क्या बात थी, जो उसे मेवाड़ की रक्षा के लिये विवश कर रही थी?
५. राणा अमरसिंह युद्ध करना क्यों न चाहता था? अन्त में उसे युद्ध के लिये तैयार क्यों होना पड़ा?
६. प्रथम युद्ध में विजय किस पक्ष की हुई? इस का कारण क्या था?
७. द्वितीय युद्ध में अमरसिंह की पराजय का क्या कारण था?
८. यह नाटक किस उद्देश्य की पूर्ति करता है?
९. महावतखाँ राजपूतों से अधिक कठोरता का व्यवहार क्यों करना न चाहता था? उस का राणा अमरसिंह और सत्यवती से क्या नाता था?
१०. राणा अमरसिंह और गोविन्दसिंह के वार्तालाप का सार दीजिये।

१. अशोक के जीवन की कुछ पूर्व और बाद की घटनाओं का वर्णन करो।
२. सहोदरघाती अशोक प्रियदर्शी किस तरह बन गया?
३. तक्ष-शिला की प्रजा ने विद्रोह क्यों किया था? अशोक ने उस को शान्त कैसे किया?
४. इन के जीवन पर कुछ टिप्पणियाँ लिखो—
बिन्दुसार, शान्तिप्रिय, राधागुप्त, सम्पुटाचार्य, जितेन्द्र।
५. इस नाटक में आप को बौद्धधर्म की उस समय की स्थिति के विषय में क्या पता लगता है?

६. 'सम्पुटाचार्य यदि कूटनीति का प्रयोग न करता तो,' यह उक्ति किसकी है ? इसकी सत्यता को सिद्ध करो ।

७. 'विद्रोह जंगल की आग होती है, जिसे भड़कते और बुझते देर नहीं लगती' । इस बात की सत्यता को सिद्ध करो ।

८. अशोक की कथानक को अपने शब्दों में लिखो ।

९. अशोक का चरित्र-चित्रण करो ।

१०. इधर है खाड़ी, उधर है सागर ।
इधर को जाऊँ, उधर को जाऊँ ।
अशोक ने यह वचन किस परिस्थिति में कहा था ?

१. 'दुर्लभ बन्धुः' इस नाम को नाटक की घटनाओं से सार्थक सिद्ध करो ।

२. शैलाच का चरित्र-चित्रण करो ।

३. अनन्त, वसन्त, पुरश्री, गिरीश—इन पर टिप्पणियाँ लिखो ।

४. मण्डलेश्वर के न्यायालय के दृश्य का वर्णन करो ।

५. पुरश्री ने जो वक्तृता न्यायालय में की थी, उसे अपने शब्दों में लिखो ।

६. 'दुर्लभ बन्धुः' का कथानक अपने शब्दों में लिखो ।

७. अनन्त और शैलाच के जीवन का मुक़ाबला करो ।

८. अँगूठी' के सम्बन्ध में जो नोंक-झोंक वसन्त और पुरश्री में हुई थी, उसे प्रश्नोत्तर के रूप में लिखो ।

९. वसन्त का ऋण क्यों लेना पड़ा था ? शैलाच को वह उसे लौटा लेने को क्यों बाधित न कर सकता था ?

१०. यह नाटक किस मौलिक नाटक का रूपान्तर है ? उस नाटक और नाटककार का स्थान संसार में आजकल कैसा है ?

१. कौरव, पांडव—इन पदों का विवरण करो । कौरव कौन थे ? पांडव कौन थे ?

२. नागरिकों की बातचीत से क्या पता लगता है कि जनता किन्हें चाहती थी ? कौरवों को या पांडवों को ?
३. द्रोणाचार्य कौन थे ? महाभारत युद्ध में इन का क्या स्थान था ?
४. कर्ण कौन था ? उसे राधेय क्यों कहते थे ? भीम ने अर्जुन को उस से मुक़ाबला करने से क्यों रोका था ?
५. कर्ण की वीरता और आकृति का वर्णन करो।
६. दुर्योधन पांडवों से क्यों डाह करता था ? कर्ण को अपने पक्ष में लेने में उस का क्या आशय था ?
७. अर्जुन की अस्त्र-चातुरी का परिचय दो।
८. 'कुन्ती सती-शिरोमणि थी' इस की पुष्टि उस के जीवन से करो।
९. शकुनि, कुन्ती, धृतराष्ट्र—इन पर टिप्पणियाँ लिखो।
१०. 'जन्म का जो टप्पा माथे पर लग गया, वह कभी मिटता ही नहीं।' इस उक्ति पर अपने विचार प्रकट करो :—

## अनुशीलनी—२

१—(क) इन में सन्धिच्छेद करो—

वृद्धावस्था, प्रत्येक, प्रातस्स्मरणीय, पुरुषोत्तम, युद्धानल, दुःखाभ्यासिनी, षड्रस, दिग्दिगान्तर, पदार्पण, उज्ज्वल, कारागार, निष्फल, व्यर्थ, अभीष्ट, वीरोत्पादक, वीरात्मायें, प्रायश्चित्, अन्त्येष्टि, अत्याचार, जीवन्मृत, मानवाधीन, स्वर्णाघर, स्तनन्धय कुलावतंस, यथार्थ, मनोमालिन्य, सहानुभूति।

(ख) इन में सन्धि करो—

पुण्य + आत्मा, परि + ईक्षा, ईर्ष्या + अनल, जन्म + अन्तर, अति + अन्त, प्रतिज्ञा + अनुसार, मंडल + ईश्वर, यदि + अपि, पूर्ण + आहुति, कौमार + अवस्था, सु + आगत, उत्तर + उत्तर, सौम्य + आकार, निर् + कलंक, नभः + मंडल, राज्य + आसन।

२—(क) इन का विग्रह करो और समासों का परिचय दो—

दुःखाभ्यासिनी, जीवन-मरन, घासफूस, दीनक्षीण, दिग-दिगान्तर, हृदयमन्दिर, पदार्पण, कुपथगामी, युद्धानल, शत्रुकुठार, रुग्णशय्या, विजयकुंड, यथाशक्ति, बालबच्चे, रघुकुलावतंस, दल-बलसहित, प्रियदर्शी, निस्सन्देह, भग्नप्रतिज्ञ, हस्ताक्षर, बुद्धिवैभव, निर्दयचित्त, चरितार्थ, ईर्ष्यानल, गदाचालनचातुरी, अगाधतल, अभिन्नहृदय, वंशक्रमागत, मुठभेड़ ।

(ख) इन को समस्त करो—

विपत्तियों का जाल, धन और दौलत, अस्थियों का पंजर, भाग्यरूपी आकाश, वीरों की उत्पादक, राजपूतरूपी तरु, जीवन प्रदीप की तरह, मन का मालिन्य, सर्वस्व की हानि, वज्र समान है हृदय जिस का, पाषाण के तुल्य, भुजदण्ड के समान, पुण्य आत्मा वाला, हृदय का रक्त, कौरव रूपी वन, पर्वतों का राजा ।

(ग) रिक्त स्थानों में विभक्तियाँ लगाओ—

तुम्हारे वचनों—वज्र—गर्जना और तुम्हारे नेत्रों—विद्युत्-प्रकाश है। भूमंडल—किसी भी शत्रुकुठार—राजपूत विनाश की क्षमता नहीं; जब तक राजपूततरु की—उस की मूठ न बन जाय। संसार—कोई स्थान नहीं, जहाँ उस की स्तुति—सुगंध न फैलती हो। मैं सुन चुका हूँ कि महाराज—उस के क्रूर वर्ताव नम्र करने—प्रयत्न—कितना श्रम किया, परन्तु उस—किसी—सिद्धि नहीं होती। इस बात—खेद न करो कि तुम्हारा मित्र संसार—उठा जाता है, क्योंकि निश्चय मानो कि उसे इस बात—ज़रा भी शोक नहीं कि वह तुम्हारे ऋण—अपने प्राण देकर चुकाता है।

(ब) रिक्त स्थानों को भरो—

घायलों की सेवा—तरह नहीं हो रही। नहीं तो वे इतनी—कभी न करते। हम लोग आशा करते हैं—तुम इस का उत्तर—दोगे। यदि तुम वहाँ होतीं तो वह अँगूठी उस योग्य वकील को—। अर्जुन की परीक्षा—और किस की क्षमता है? वर्षों के प्रतीक्षण के—क्षत्रियों के भाग्य में यह अवसर देखने—मिलता है। कुमार अर्जुन—मुझे गर्व है। यह तो कागज़ की—में बैठकर अपार सागर को—करने के समान होगा। अच्छा यह तो बताओ—महाराणा के मन में इस सन्धि—विचार—उदय हुआ? मैंने सन्धि—कभी नाम भी नहीं—। मैं तो उम्र भर युद्ध ही—रहा हूँ।

———

# शब्दार्थ-कोष

| शब्द | अर्थ | शब्द | अर्थ |
|---|---|---|---|
| १३ उत्तेजित | जोश में | १६ भावना | भाव |
| सततसंगी | निरन्तर साथी | विलास | सुख-भोग |
| करवाल | खड्ग | असंख्य | अगणित |
| कर | हाथ | सत्ता | स्थान |
| उष्ण | गरम | आघात | चोट |
| रक्त | लहू, रुधिर | १७ साभिमान | अभिमानसहित |
| चिरपिपासा | देर की प्यास | मिश्रण | मेल, मिलावट |
| धृष्टता | ढिठाई | नत | झुका हुआ |
| १४ खटका | भय, अंदेशा | सामन्त | सरदार |
| आवेश | जोश | १८ परामर्श | विचार, सलाह |
| धमनी | नाड़ी | रणचण्डी | युद्ध की देवी |
| कलुषित | मलिन | अभ्यास | बान, टेव |
| १५ चर्चा | ज़िक्र | १९ ध्येय | उद्देश्य |
| उदय | उत्पत्ति | संपर्क | सम्बन्ध |
| आवृत | युक्त | परिमित | छोटा, सीमित |
| भव्य | सुन्दर | बलबूता | शक्ति |
| अट्टालिका | अटारी, ऊँचे गृह | अनुकरण | समान आचरण, नक़ल |
| स्यश्यामला | खेती, अनाज से भरपूर | क्षमता | सामर्थ्य |
| नचुम्बी | आकाश को छूनेवाला, बहुत ऊँचा | आरोपण | स्थापित करना |
| | | यादव | यदुकुलोत्पन्न |
| | | राघव | रघुकुलोत्पन्न |
| | | वज्रपात | बिजली गिरना |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| २० | ज्वार | समुद्री लहरों का उठना | २४ | अस्थि पंजर-मात्र | केवल हड्डियों का ढाँचा |
| | युद्धानलकुंड | रणाग्निकुंड | | मानसिक | मन की |
| | तनुज | पुत्र | | अवहेलना | अवज्ञा |
| | विधिविडम्बना | भाग्य का उपहास | | अन्तर | भेद |
| | समस्त | सारी | २५ | नितान्त | बिल्कुल |
| | परिवर्तित | बदली हुई | | अनभिज्ञ | अपरिचित, अनजान |
| | परिस्थिति | वातावरण | | विग्रह | युद्ध |
| २१ | मात्रा | परिमाण | | निग्रह | दंड |
| | अनुभूतिमात्र | ज्ञान का विषय ही (वास्तविक नहीं) | | अवलंबन | आश्रय |
| | धधकता | जलता हुआ | | पदार्पण | प्रवेश, पैर धरना |
| २२ | वैभव | ऐश्वर्य | २६ | भाग्याकाश | भाग्यरूपी आकाश |
| | असीम | अनन्त | | परिचारिका | सेविका |
| | षट्रस | मीठा, नमकीन, तीखा, कटु कसैला, खट्टा, ये भोजन के छः स्वाद | | चारणी | भाटवंश की स्त्री |
| | | | | पूर्वज | पूर्व पुरखा |
| | | | | कुपथगामी | कुमार्ग पर चलने वाला |
| | | | | हताश | निराश |
| | इच्छुक | चाहनेवाला | २९ | कोलाहल | शोर |
| २३ | अतीत | भूतकाल | ३० | लथपथ | भीगा हुआ, तराबोर |
| | प्रतिध्वनित | गुंजित | | | |
| | कलनादी | मधुर स्वर वाले | ३१ | सँपोला | साँप का बच्चा |
| | धवल | श्वेत, सफ़ेद | ३२ | भीरु | कायर |
| | व्याप्त | फैली हुई | ३३ | आक्रमण | धावा, हमला |

| | | |
|---|---|---|
| ३४ | स्वाहा | दग्ध, नष्ट |
| | संहार | नाश |
| | प्रतिरोध | मुक़ाबला |
| ३५ | अभीष्ट | इच्छित |
| | शृगाल | गीदड़ |
| | वाहिनी | सेना |
| ३६ | वीरोत्पादक | वीर उत्पन्न करने वाली |
| | रक्तप्रवाहिनी | लहू की नदी |
| | सृष्टि | उत्पत्ति |
| | विस्मय-सागर | आश्चर्य का समुद्र |
| | सर्वध्वंस | सर्वनाश |
| ३७ | धरोहर | निक्षेप, अमानत |
| | जन्मान्तर | दूसरा जन्म |
| | विद्युत् | बिजली |
| | अधिष्ठात्री | मुखिया, नियंत्रिणी |
| | काका | चाचा |
| ३८ | प्रायश्चित् | पाप के फल से छूटने का उपाय |
| | उत्सर्ग | त्याग |
| | प्रस्तुत | तैयार |
| ३९ | क्षमता | सामर्थ्य |
| | धर्मच्युत | धर्म से डिगा हुआ |
| ४० | अन्त्येष्टि-संस्कार | दाहसंस्कार |
| | सीनाज़ोरी | बलात्कार, डकैती |
| ४२ | प्रतिनिधि | स्थानापन्न |
| | उद्धार | कष्ट निवारण |
| | उर्वराशक्ति | उत्पादक शक्ति |
| ४३ | ममता | मोह, अपनापन |
| | अनुज्ञा | इजाज़त |
| ४४ | लक्षण | चिन्ह, आसार |
| | मुट्ठीभर | थोड़े |
| ४५ | रुग्णशय्या | रोगी का बिस्तरा |
| | क्षय रोगी | तपेदिक का बीमार |
| | नामशेष | सर्वथा नष्ट, नाम के सिवा शेष कुछ न बचना |
| ४६ | उद्विग्न | व्याकुलता, परेशानी |
| | प्रेरित | नियुक्त |
| | मानवाधीन | मनुष्य के आधीन |
| ४७ | युद्धभूषा | सैनिक वेष |
| ४९ | यथार्थ | वास्तविक, असली |
| ५० | युद्ध ज्वाला | रणाग्नि |
| | बीजनाश | समूल नाश |
| | सजातीय | अपनी जाति का |
| ५१ | मंतक | तर्क |
| | वाजिब | उचित |
| | प्रचण्ड | तेज़ |
| ५२ | पहेली | समस्या |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| ५४ | रोमकूप | लोमछिद्र | | नीतिपटुता | नीतिचातुर्य |
| ५६ | सन्नाटा | निःशब्दता | | धारणा | विचार, निश्चय |
| | श्मशान | मरघट | | आपत्ति | उज्र, एतराज |
| ५७ | शासक | शासन करने वाला | ७१ | सहयोग | मिलकर काम करना |
| ५८ | द्वन्द्वयुद्ध | दो की मुठभेड़ | ७२ | विश्वस्त | विश्वासी |
| ५९ | जननी | माता | | तत्पर | तैयार |
| | मनोमालिन्य | मनमुटाव | ७३ | कटुता | कड़वापन |
| ६० | तथास्तु | यही हो | | न्यूनता | कमी |
| | आमीन | यही हो | | तिलमात्र | तिल भर, बहुत थोड़ा |
| ६७ | दक्षिण पार्श्व | दाँई ओर | | | |
| | वाम पार्श्व | बाँई ओर | | उत्तराधिकारी | मेरे बाद राज्य का स्वामी होना |
| | विद्रोहाचरण | बगावत | | | |
| ६८ | कर्मचारी | नौकर-चाकर | ७५ | मंच | आसन, स्टेज |
| | विकट | भीषण | | सम्भावना | अनुमान |
| | दमन | दबाव | | प्रतीक्षा | इन्तज़ार |
| | दावाग्नि | जंगली आग | ७६ | करुण गाथा | दया उत्पन्न करने की बात |
| | मत्सर | द्वेष, डाह | | | |
| ६९ | अनुष्ठान | अमल | | प्रतिविधान | उपाय |
| | धीरता | धैर्य | | उग्र | तीव्र, कठोर |
| | सम्पादन | करना | ७७ | कदापि | कभी भी |
| | शार्दूलशावक | शेर का बच्चा | | क्षुद्रातिक्षुद्र | छोटे से छोटा |
| | अंगप्रत्यंग | शरीर के बड़े छोटे अवयव | | कारागार | जेल, कैदखाना |
| | | | | नारकीय | नरकसंबन्धी |
| | अपरिपक्व | अपूर्ण | | यातना | कष्ट |
| ७० | शैशवावस्था | बचपन | ७८ | करुण गाथा | दुःखद बात |
| | अबोध | अज्ञान | | सहानुभूति | समवेदना |

| | शब्द | अर्थ |
|---|---|---|
| ८१ | चिकनी-चुपड़ी | बनावटी प्रेमिका |
| | बहक जाना | फ़िसल जाना, वस में आ जाना |
| ८२ | स्वच्छ | निर्मल |
| ८३ | पायंते | पैताना, पलंग के पैर की ओर |
| | प्रयाण | यात्रा |
| | उपचार | इलाज |
| ८४ | विस्तृत | फैला हुआ |
| | आशातीत | आशा से अधिक |
| | सुव्यवस्था | अच्छा प्रबन्ध |
| ८५ | जर्जरित | जीर्ण, बूढ़ा |
| | दक्षता | चातुर्य |
| | प्रस्थान | यात्रा |
| | बाधित | विवश, लाचार |
| | बीजारोपण | बीज बोना |
| | लालायित | इच्छुक |
| | वञ्चित | हीन, रहित |
| ८६ | अदृष्ट | पूर्व जन्म के |
| | भग्न | टूटा हुआ |
| | विक्षुब्ध | अधीर-व्याकुल |
| ८७ | भावुकता | सज्जनता, सच्चरित्रता |
| ८८ | विस्फारित | फैला हुआ |
| | आरूढ़ | बैठा हुआ |
| ८९ | निस्नेह | तैलरहित |
| | सौम्याकार | सुन्दर आकार वाला |
| | अवसान | अन्त, मृत्यु |
| ९१ | सम्पन्न | धन दौलत से युक्त |
| | विपन्न | विपत्तिग्रस्त |
| | विषाद | दुःख |
| ९२ | क्रूर | कठोर |
| | निष्ठुर | निठुर, क्रूर |
| | अधमतर | अति नीच |
| | नीतिसंगत | न्याययुक्त |
| ९३ | संघर्ष | कशमकश |
| | शपथ | सौगंध |
| | धरणीतल | भूतल |
| ९४ | तथागत | बुद्ध |
| | सीमा | हद्द, परिधि |
| | तत्त्व | सिद्धान्त |
| ९५ | अंकुर | नवजात अंश |
| | सतृष्ण | तरसता |
| ९६ | पौ-बारह | अत्यन्त लाभ |
| | शूल | काँटा |
| ९७ | बूता | बल |
| ९८ | यशोवितान | कीर्ति की चादर |
| | संहार | नाश |

| | | |
|---|---|---|
| १२२ | निहोरे | के लिए |
| | द्रवित करना | दयायुक्त करना, आर्द्र करना |
| १२५ | त्वचा | चमड़ी, खाल |
| | अस्थि | हड्डी |
| १२७ | वधक | जल्लाद |
| | नारकी | नरक भोगने के काम करने वाला, पापी |
| १२८ | प्रत्याशा | आशा |
| | व्यवस्था | क़ानून की धारा |
| १३९ | स्थानापन्न | प्रतिनिधि |
| | पुष्कल | बड़ी |
| | प्रेषित करना | भेजना |
| १४० | विचारसभा | न्यायालय |
| | नभमण्डल | आकाश |
| १४१ | आतङ्क | भय |
| | विजयपत्र | डिग्री |
| १४५ | दारिद्र्य | ग़रीबी |
| १४७ | बरवंड | उद्धत |
| १४८ | विवेकी | ज्ञानी, समझदार |
| | वादी | मुद्दई |
| | प्रतिवादी | मुद्दालय |
| | दायी | अधिकारी |
| १५१ | बेमाँगे | बिना माँगे |
| १५३ | पांडुलिपि | हस्तलिखित मसौदा |
| | बुद्धिवैभव | बुद्धि की शक्ति |
| १५४ | पारिश्रमिक | मेहनताना |
| | स्मारकचिन्ह | याद करने का निशान |
| | धृष्टता | ढिठाई |
| १५५ | निश्शीलता | आचारहीनता |
| १५६ | चुटकला | दिल्लगी की बात |
| १५९ | उपकृत | कृतज्ञ |
| | आन्तरिक | मानसिक |
| १६० | समाधि. | क़ब्र |
| १६३ | रीति | रस्म |
| १७६ | मध्याह्न | दोपहर |
| | निमन्त्रण | न्योता, बुलावा |
| | रफ़ू-चक्कर | लुप्त |
| १७७ | साम्मुख्य | सामना मुक़ाबला |
| १७९ | रङ्गभूमि | अखाड़ा |
| | प्रेक्षागार | बैठकर देखने का स्थान |
| | मातंग | हाथी |
| | श्मश्रु | दाढ़ी |
| | आजानुलम्बी | घुटनों तक लम्बी |
| | तूणीर | तरकस |
| | द्विगुणित | दुगुना |
| १८० | राजस | रजोगुणी |
| | सात्विक | सतोगुणी |
| | अनुरूप | अनुकूल |

| | शब्द | अर्थ |
|---|---|---|
| १८१ | स्तनन्धय | दूध पीने वाला बच्चा |
| | आर्त | दीन-दुःखी |
| | वैमनस्य | मनमुटाव |
| | विलीन | लुप्त, ग़ायब |
| | ईर्ष्यानल | डाह की आग |
| १८२ | कुटिल | क्रूर, टेढ़ा |
| १८३ | नरसिंहा | तुरही की शक्ल का एक बाजा |
| | कुरुकुलावतंस | कुरुवंशभूषण |
| १८४ | संकेत | इशारा |
| | भाल | माथा |
| | मजाल | सामर्थ्य, हिम्मत |
| १८७ | अधर में | आकाश में (भूमि में गिरने से पूर्व) |
| | कंचुक | अस्तर, कवच |
| १८८ | ध्वनि | आवाज़, शोर |
| | पक्षपाती | तरफ़दार |
| १८९ | पराकाष्ठा | अन्तिम सीमा |
| | वास्तविक | सचमुच, असली |
| १९० | गोहचर्म | गोह की चमड़ी, खाल |
| | अंगुलित्र | दस्ताने |
| | [illegible] | [illegible] |
| | [illegible] | [illegible] |

| | शब्द | अर्थ |
|---|---|---|
| | यज्ञ काष्ठ | अरणी ( वह लकड़ी जिसे रगड़ कर पूर्व समय में यज्ञाग्नि निकालते थे ) |
| | तीन अग्नियाँ | तीन प्रकार की अग्नि, १—गार्हपत्य ( जो प्रत्येक गृहस्थ के गृह में रहती थी । भोजन बनाना आदि से लेकर संस्कार आदि इसी में होते थे ) २—दाक्षिणाग्नि-यज्ञ में गार्हपत्य से दक्षिण की ओर स्थापित अग्नि । ३—आहवनीयाग्नि ( गार्हपत्य से लेकर इसे यज्ञमंडप में स्थापित किया जाता था ) |
| १९३ | [illegible] | मारा |
| १९४ | [illegible] | [illegible] |
| १९५ | जन्मजात | जन्म के साथ उत्पन्न, स्वा- |

| | | |
|---|---|---|
| | | भाविक |
| | थाती | बपौती |
| १९६ | ध्येय | उद्देश्य |
| | धरोहर | निक्षेप, अमानत |
| | कुत्सित | घृणित |
| १९७ | आक्षेप | ताना |
| | यमसदन | यमलोक |
| | शिथिल | दुर्बल |
| १९८ | प्रतिपक्षी | शत्रु, मुक़ाबला करने वाली |
| १९९ | अभिप्रेत | इष्ट |
| २०० | वंशक्रमागत | ख़ानदानी |
| | यज्ञहवि | यज्ञ की सामग्री |
| | आस्वादन | भोजन, स्वाद |
| | उद्गमस्थान | उत्पत्ति का स्थान |
| २०१ | ठप्पा | छाप |
| | निर्मूल | निराधार, झूठी। |
| | कल्पना | विचार |
| | प्रतिशोध | बदला |

---

# पुस्तक में प्रयुक्त

## मुहावरे और लोकोक्तियाँ

| पृष्ठ | शब्द | अर्थ |
|---|---|---|
| १६ | तिलांजलि देना | त्यागना। |
| १७ | आँखें फूटना | अंधा हो जाना। |
| १९ | पल्ला छूट जाना | छुटकारा पाना। |
| २१ | जुआ कंधों पर रखा जाना | पराधीनता से दबाना। |
| २६ | भार उठाना | ज़िम्मा लेना। |
| २८ | नौबत आना | दशा का प्राप्त होना। |
| | दुम दबा कर भागना | भय के मारे भागना। |
| | मर मिटना | प्राण देना। |
| | मुँह मोड़ना | विमुख होना, भागना। |
| ३० | दाँत खट्टे करना | पराजित करना। |
| | धावा बोलना | हमला करना। |
| | दिन गिनना | प्रतीक्षा करना। |
| ३१ | गज़ब ढाना | अनर्थ करना। |
| ३२ | [illegible] | भाग जाना। |
| ३८ | [illegible] होना | [illegible] के [illegible] करना, स्वाधीनता खो देना। |
| | बागडोर हाथ में होना | संचालन करना, अधिकार होना। |
| ३४ | [illegible] का मेल | दो [illegible] का मेल (स्वांग में) |
| ५० | [illegible] | [illegible] होना। |

| | | |
|---|---|---|
| ४१ | घर का भेदी लंका ढावे। | आपस की फूट से हानि होती है। |
| | सूखी लकड़ी के साथ गीली भी जल जाती है। | अपराधी के साथ निरपराध को भी हानि पहुँचती है। |
| ४२ | एक ने कही दूसरे ने मानी नानक कहे दोनों ज्ञानी। | किसी के उपदेश पर अमल करना बुद्धिमानी है। |
| ४३ | न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी। | विवाद का मूल न रहने से विवाद मिट जाता है। |
| ४४ | दाल में नमक के बराबर | बहुत कम। |
| ४७ | जीवट छोड़ना। | बेहौसला होना। |
| ४६ | कमाल करना | अद्भुत काम करना। |
| | एक और एक ग्यारह होते हैं। | एकता में बड़ी शक्ति है। |
| | सेहरा सिर पर बाँधना | विजय का पुरस्कार देना। |
| ५० | गुलछर्रे उड़ाना | विलास का जीवन बिताना। |
| | चैन की नींद सोना | आराम से जीवन काटना। |
| | जान हथेली पर लेना | प्राणों की परवाह न कर जोखों के काम करना। |
| ५२ | जी मानना | इच्छा होना। |
| ५६ | घाव पर नमक छिड़कना | दुखी को दुर्वचनों से अधिक सताना। |
| | हाथ में लेना | आरंभ करना। |
| ५८ | सामना करना | मुक़ाबला करना। |
| ७१ | अग्निकुण्ड में झोंकना | विपत्ति में डालना। |
| ७३ | शुभस्य शीघ्रम्। | अच्छा काम शीघ्र करना चाहिए। |
| | आँधी सिर के ऊपर से निकल जाना | विपत्ति टल जाना। |
| ७४ | भूत सिर पर सवार होना | किसी बात का हठ करना, आवेश में आना। |

| | |
|---|---|
| ७५ गरदन धुरे के नीचे देना | खूब सहायता करना। |
| आटे दाल का भाव याद आना | कष्ट का अनुभव होना। |
| बढ़ती के साथी | उन्नति के समय मित्रता करने वाले। |
| ७६ कान पर जूँ तक न रेंगना | कुछ ध्यान न देना। |
| दम नाक तक आ जाना | कष्ट की अन्तिम सीमा पर पहुँचना। |
| ७७ गाढ़े पसीने की कमाई | अत्यन्त परिश्रम से प्राप्त। |
| ७८ दमन का दौर | निग्रह का चक्र। |
| ८० नाक में दम करना | बहुत तंग करना। |
| रक्त से सींचना | प्राण देकर उन्नत करना। |
| ८४ शासन की डोर हाथ में, लेना | राज-काज की स्थापना करना। |
| ८५ पहेली बूझना | समस्या को समझना। |
| ८६ अन्त आना | मृत्यु समीप आना। |
| दीवार पर भविष्य लिखा देखना | क्या होने वाला है, यह प्रतीत होना। |
| ईश्वरेच्छा गरीयसी | ईश्वर जो चाहे वही होता है। |
| आँखें पथराना | नेत्र निश्चल हो जाना, मर जाना। |
| ९२ मार्ग में काँटे होना | बाधा होना। |
| ९३ काँटों का मुकुट | कष्टमय शासन। |
| सत्ता मिटाना | मार भुका देना। |
| ९४ तूती बोलना | बहुत प्रभाव होना। |
| ९५ दम न लेना | आराम न लेना। |
| पाँवो पर लोटना | शरण में आना, दासता स्वीकार करना। |
| ९६ गले में पड़ा ढोल बजाना | किसी काम को करना ही पड़ना। |
| ९७ बीड़ा उठाना | ज़िम्मेदारी लेना। |

| | |
|---|---|
| १०१ पाँव पीछे हटाना | मुड़ना, हार कर लौटना। |
| मारा हुआ मैदान हाथ से निकलना | प्राप्त विजय पराजय में बदलना। |
| १०३ यश धूल में मिलना | कीर्ति मिट जाना। |
| ईंट से ईंट बजाना | तहस नहस करना, नष्टभ्रष्ट करना। |
| १०४ हाथ डालना | आरम्भ करना। |
| १०५ पश्चाताप की आग में जलना। | पछताने से कष्ट होना। |
| पाँव उखड़ना | हारकर भागना। |
| १०६ पाँव जमाना | स्थिर होकर लड़ना। |
| ११८ चित्त का बोझ हलका करना | सभी कुछ बता कर निश्चिन्त होना। |
| ११६ जी टटोलना | मन का आशय जानना। |
| बात बढ़ाना | अधिक कहना। |
| नाम से | साख पर। |
| १२१ राह देखना | प्रतीक्षा करना। |
| १२२ मन भर लेना | तसल्ली करना। |
| १२५ आपे से बाहर होना | क्रोध करना। |
| १२६ मुहर कर देना | हस्ताक्षर करना। |
| मिति पूजना | नियत दिन आना। |
| १२७ बात की बात में | अतिशीघ्र। |
| १३१ सिर उठा रखना | हानि पहुँचाने को तैयार होना। |
| १३३ हाथ उठाना | रुकना। |
| १३६ बाल टेढ़ा होना | हानि होना। |
| गल्ले भर में मन्नत की दुर्बल भेड़ | सब में बलिदान होने वाला। |
| १३७ काम न आना | असर न करना। |
| बट्टा लगाना | बदनाम करना। |

| | |
|---|---|
| १३८ पैठ जाना | प्रवेश करना। |
| सुधि की औषध कर | अक्ल को सुधार। |
| १४० पंजे में फँसना | क़ाबू में आना। |
| १४१ मेरे सिर पर | मेरे ज़िम्मे, फल का भागी मैं। |
| १४४ मनोरथ बदलना | आशय बदलना। |
| १४७ राह ले | चला जा। |
| १४६ नाम को | छोटा सा। |
| बाल बराबर | थोड़ी। |
| १५० जी पर खेलना | प्राण देना। |
| १५४ किराये का टट्टू | मज़दूरी लेकर काम करने वाला। |
| १५५ बातों का धनी | वाचाल, बहुत बातें करने वाला। |
| १६१ उनकी सन्ती | उनकी ओर से। |
| १७७ गुरु गुड़ तो चेला शक्कर | बड़े से छोटा बढ़ गया। |
| मुँह के बल गिरना | ज़मीन पर गिर जाना। |
| १७६ मात करना | हराना, किसी से बढ़ जाना। |
| १८१ पाँव धरना | प्रवेश करना |
| काँटा चुभना | खटका होना। |
| बीज बोना | आरम्भ करना। |
| १८२ घी डालना | प्रचंड करना, बढ़ाना। |
| १८३ गला फाड़ फाड़ कर | चिल्लाकर, ज़ोर से। |
| १८४ दाल न गलना | कुछ न बन पड़ना। |
| १८५ यतो-धर्मस्ततो जयः | जिधर धर्म हो, उधर जय होती है |
| दूध का दूध, पानी का पानी | सच्ची बात स्पष्ट हो जाती है। |
| १८७ काम तमाम करना | मार डालना। |
| १६१ साँपों को दूध पिलाना | शत्रु को उन्नत करना। |
| १६६ जी में जी आना | समाधान होना, चिन्ता हटना। |
| भंडा फूटना | भेद खुलना। |

---